



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि-परिवार के द्वारा आयोजित

जिन्नवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19-03-1971

* मुनिदीक्षा-11-05-1989

* आचार्यपद- 20-06-2004

पट्टाधीशपद- 24-12-2010 (20-06-2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मत्तिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:-

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संग्रह के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी-जुलाई 2004) (अक्षयज्योति-अक्तूबर 2004)

सावयधम्मदोहा

ग्रन्थकार

परम पूज्य आचार्यश्री देवसेन जी महाराज

सम्पादक

हीरालाल जी जैन

प्रकाशक

अम्बादास चवरे दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

कारंजा (महाराष्ट्र)

(परम्परानायक)



(द्वितीय पट्टाधीश)



परम पूज्य चारिष-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिमागर जी महाराज
(अंकनीकर)

(तृतीय पट्टाधीश)



(चतुर्थ पट्टाधीश)



परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोगणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिमागर जी महाराज

परम पूज्य तपरचर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिमागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें। मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिचार

श्री

अम्बादास चवरे दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला-२



सावयधम्मदोहा

भूमिका, अनुवाद, शब्दकोश, टिप्पणी आदि सहित

सम्पादक

हीरालाल जैन, एम. ए., एल एल. बी.,

संस्कृताध्यापक, किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती;

भूतपूर्व रिसर्च स्कालर, अलाहाबाद यूनीवर्सिटी.

वीर निर्वाण संवत् २४५८]

[विक्रम संवत् १९८९

THE
AMBADAS CHAWARE
DIGAMBARA JAINA GRANTHAMALA
OR
Karanja Jaina Series

Edited—

~~With~~ *the Cooperation of Various scholars*

By—

~~Hiralal~~ [★] Hiralal Jain, M A., L.L. B.,
King Edward College, Amraoti.

Volume II.

Published by—

Karanja Jaina Publication Society,
Karanja, Berar, India.

Savayadhammadoha

An Apabhramsa work of
the 10th century.

Critically edited

*With Introduction, Translation, Glossary,
Notes and Index*

By

Hiralal Jain, M A., L L. B.,

Asstt Professor of Sanskrit,

King Edward College, Amraoti;

Sometime Research Scholar, Allahabad University.

1932.



एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुहु वि कोइ ।
सो सावउ किं सावयहं अणु किं सिरि मणि होइ ॥७६॥



प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ के दर्शन प्रथम बार मुझे सन् १९२४ में कारंजा के सेनगण मण्डार में हुए थे और उस प्रति पर से इस ग्रन्थ का परिचय सन् १९२६ में प्रकाशित Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss in C. P. & Berar में दिया गया था। उस परिचय से कई विद्वानों का ध्यान इस ग्रन्थ की ओर आकर्षित हुआ और उसे प्रकाशित कराने के लिये मुझ पर आग्रह होने लगा। किन्तु एक ही प्रति परसे इस का सम्पादन करने का मुझे साहस नहीं हुआ, इससे ठहरना पड़ा। अगले वर्ष इस ग्रन्थमाला की नींव डाली गई और तबसे ग्रन्थ की अन्य पोथियों की खोज में विशेषरूप से प्रयत्नशील होना पड़ा। सन् १९३० में हिन्दुस्तानी एकाडेमी, यू पी., के अध्यक्ष श्रीयुक्त डॉ. ताराचन्द्रजी एम.ए., डी. फिल., ने इस ग्रन्थ को देखने की इच्छा प्रकट की। किन्तु उस समय तक हमारे हाथ में इसकी उपर्युक्त एक ही वही प्रति थी और उसकी प्रथम कापी तैयार की जा रही थी इससे वह भेजी नहीं जा सकी। धीरे धीरे अन्य प्रतियों का पता चला और उसी अनुसार इसका संशोधन होता गया। अबतक हमें इसकी ग्यारह पोथियों का पता चला है जिनका परिचय 'संशोधन सामग्री' में कराया गया है।

पहले हमारा विचार ग्रन्थमाला के अन्य ग्रन्थों के सहस्र इसका सम्पादन भी अंग्रेजी में करने का था। किन्तु अनेक मित्रों व ग्रन्थमाला के सहायकों का आग्रह हुआ कि अपभ्रंश भाषा के कुछ ग्रन्थ हिन्दी में भी सम्पादित होना चाहिये ता कि हिन्दी संसार में उक्त दोनों भाषाओं का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से झलक जावे। तदनुसार इस ग्रन्थ का सम्पादन हिन्दी में करने का निश्चय हुआ। आगे प्रकाशित होने वाले ग्रन्थों में भी अनेक ग्रन्थों का हिन्दी में सम्पादन करने का विचार है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में हमे हमारे मित्र श्रीयुक्त ए. एन. उपाध्ये एम. ए., अर्धमागधी प्रोफेसर, राजाराम कालेज, कोल्हापूर, से बहुत सहायता मिली है। उन्होने द. प्रति प्राप्त होने के पूर्व सुझे उस प्रति की अपने लिये कराई हुई एक कारपी देखने के लिये भेजने की कृपा की तथा पत्रों द्वारा भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना, की तीन पोथियोंका परिचय कराया। सन् १९३१ के Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute में आपका ' Joindu and his Apabhramsa Works ' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। हमने उस लेख से भी सहायता ली है। ग्रन्थ के कुछ शंकास्पद वाक्यों को हमने आपके पास विचार के लिये भेजा था उनपर भी आपने पत्र द्वारा मत प्रकट करने की कृपा की। इसका हमने टिप्पनी में उपयोग किया है। इस सब सहायता के लिये हम आपका बहुत उपकार मानते हैं।

हमारे मित्र डाक्टर पी. एल. वैद्य, एम्. ए., डी. लिट्., प्रोफेसर, वाडिया कालेज, पूना, ने भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना, की भ. प्रति हमारे अवलोकनार्थ भिजवाने की कृपा की। तदर्थ हम आपका आभार मानते हैं।

श्रीयुक्त पन्नालालजी अग्रवाल, सहायक मंत्री, जैनमित्रमण्डल दिल्ली, व श्रीयुक्त मेहेन्द्रजी, सम्पादक ' वीरसन्देश ' आगरा, ने हमें क्रमशः द. और अ. प्रतियां भिजवाने की कृपा की। इसके लिये हम आपके कृतज्ञ हैं।

सुहृद् डॉ. ताराचन्द्रजी गंगवाल, एम. बी. बी. एस., पेल्लेस सर्जन, जयपुर, व श्रद्धेय मास्टर मोतीलालजी संघी, संस्थापक, सन्मति पुस्तकालय, जयपुर, ने हमें जयपुर की पोथियां देखने में बड़ी सहायता पहुंचाई। एतदर्थ हम आपके आभारी हैं।

इस ग्रन्थ के सम्पादन व ग्रन्थकर्ता का निर्णय करने में हमें क. प्रति से विशेष सहायता मिली है। इस प्रति के लिये हम भट्टारक महाराज श्री वीरसेनजी स्वामी, सेन गण, कारंजा के ऋणी हैं। इस ग्रन्थ-

माला को सफल बनाने में आप बहुत कुछ कारणीभूत हुए हैं जैसा कि हम प्रथम ग्रंथ की प्रस्तावना में कह चुके हैं ।

मान्यवर गोपाल अम्बादासजी चवरे, कारंजा, इस ग्रन्थ-माला के जीवनाधार हैं । आपकी प्राचीन जैन साहित्य को उत्तम ढंग से प्रकाशित देखने की बड़ी उत्कण्ठा है । आपकी ही प्रेरणा से हमें इस कार्य में विशेष उत्साह हुआ है । आपका उपकार विरस्मरणीय है ।

सरस्वती प्रेस अमरावती, के मैनेजर श्रीयुक्त टी. एम. पाटील तथा प्रेस के अन्य कर्मचारियों ने इस ग्रन्थ को छापने में बड़ी रुचि और सावधानी दिखाई है इसके लिये मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ ।

इस ग्रन्थमाला का प्रधान उद्देश्य प्राचीन जैन साहित्य को इस ढंग से प्रकाशित करने का है कि जिससे साहित्यिक छानबीन व ऐतिहासिक खोज में विशेष सहायता पहुँचे । यह हम माला के प्रथम ग्रन्थ में ही प्रकट कर चुके हैं । यदि उस उद्देश्य की प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा किसी अंश में पूर्ति हुई तो हम व हमारा मण्डल अपने प्रयास को सफल समझेंगे । उसी दिशा में किसी प्रकार की कमी व त्रुटि की पूर्ति के सम्बन्ध में हमारे विद्वान् पाठक जो सम्मति प्रदान करने की कृपा करेंगे उसका हार्दिक स्वागत किया जायगा ।

किंग एडवर्ड कालेज,
अमरावती
अनन्त चतुर्दशी, वि. सं. १९८९. }

हीरालाल

विषयसूची

	पृष्ठ
प्राक्कथन	१
भूमिका	१-११-१
१ संशोधन सामग्री	१
२ ग्रन्थकर्ता	३
३ ग्रन्थ का नाम, प्रचार, टीका- टिप्पणी व परम्परा	१-१११
४ भाषा और व्याकरण	३
सावयधम्मदोहा, मूल पाठ, पाठभेद व अनुवाद	१-६७
परिशिष्ट (अधिक दोहे सानुवाद) ...	६८-७१
शब्दकोश	७२-१०४
टिप्पणी	१०५-१२०
दोहों की वर्णानुक्रमणिका	१२१-१२५
शुद्धिपत्र	१२६

भूमिका

१ संशोधन सामग्री ।

अबतक सावयधम्मदोहा की प्राचीन हस्तलिखित नौ पोथियाँ हमारे देखने में व दो सुनने में आई हैं । इनमें से चुनी हुई चार पोथियों (अ क ज द) का अक्षरशः मिलान करके प्रस्तुत संस्करण में उनके पाठ भेद अंकित किये गये हैं व शेष से यत्र तत्र सहायता ली गई है । इन प्रतियों का परिचय इस प्रकार है—

अ. प्रति मोतीकटरा, आगरा, के दिगम्बर जैन मंदिर की है । पत्र संख्या-१८; आकार ९३ 'x ९"'. पंक्तियाँ प्रति पृष्ठ - ७ से ९ तक; वर्ण प्रतिपंक्ति- लगभग ३०; हासिया ऊपर नीचे- १", दायें बाँये १ १/२"। प्रारम्भ का एक और अन्त के दो पत्र दूसरे हाथ के लिखे हुए हैं । अनुमानतः पहले पत्र बहुत जीर्ण होजाने से उनकी नकल करके ये पत्र जोड़ दिये गये हैं । जीर्ण पत्रों का अब पता नहीं है ।

प्रारम्भ-ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

अंत-इति श्रावकाचारदोहदा जोगेन्द्रदेवकृत संपुर्ण ॥ सुभं भवतु ॥

इस प्रति मे कुल दोहों की संख्या २२५ है । अधिक दोहा परिशिष्ट में देखिये । १० वें दोहे के प्रथम चरण का पाठ कुछ भिन्न है [पाठभेदों में देखिये] । इसके पाठ क. प्रति से अधिक मिलते हैं ।

क. प्रति कारंजा के सेनगणभंडार की है । पत्रसंख्या- १६, आकार- ११" x ५", पंक्तियाँ प्रतिपृष्ठ- ९, वर्ण प्रतिपंक्ति- लगभग ३०, हाँसिया ऊपर नीचे- ३/४", दायें बाँये- १" ।

प्रारम्भ—ऊं नमः श्री पार्श्वनाथाय ऋषी धरणेन्द्रपद्मावतीसहिताय
अन्त—इय दाहाबद्धसावयधम्म दवसनं उवादट्टु ।

लहुअक्खरमत्ताहीयमो पय सयण खमंतु ॥

इय दोहाबद्धसावयधम्मसम्मत्ते लिषितमिनं जगतकीर्तेण संवत्
१७८० कुवार वदि १४ हृदयनग्रमध्यात् लिषितमिनं ।

इसमें कुल दोहों की संख्या २३५ है और एक संस्कृत श्लोक 'उक्तं च'
रूप से उद्धृत किया गया है (परिशिष्ट देखिये)। इसके पाठ अ प्रति से
अधिक मिलते हैं ।

ज. प्रति जयपुर के तेरापंथी मंदिर की है। पत्रसंख्या—११,
आकार— $१०\frac{१}{२}'' \times ४\frac{१}{२}''$, पंक्तियां प्रतिपृष्ठ—१३, वर्ण प्रति पंक्ति—लगभग
३५; हाँसिया ऊपर नीचे— $\frac{१}{२}''$; दायें बायें— $१\frac{१}{४}''$ ।

प्रारम्भ— श्री जिनाय नम ।

अन्त— इति श्रीश्रावकाचारदेहकं समाप्तं ।

इसमें कुल दोहों की संख्या २२३ है। दोहा नं २१९ नहीं है। नवर
देने में त्रुटि के कारण प्रति के अन्तिम दोहे पर नं २२१ आया है।

द. प्रति पंचायती दिगम्बर जैन मंदिर, देहली, की है। पत्रसंख्या
१३; आकार— $११\frac{१}{२}'' \times ५''$; पंक्तियां प्रतिपृष्ठ—९ से ११ तक, वर्ण प्रति-
पंक्ति—लगभग ३२, हाँसिया ऊपर नीचे— $\frac{३}{४}''$, दायें बायें— $१''$ देहों की
संख्या २२४

प्रारम्भ— ऊं नमो वीतरागाय ।

अन्त—इति श्रावकाचारदेहक समाप्तम् ।

अथ सवत्सरेऽस्मिन् श्री नृगविक्रमादेव्यराज्ये संवत् १६०३
वर्षे । श्रावण वदि ११ शुक्रादने । मृगाशरनक्षत्रे । व्याघात-

नामयोगे । मानस उपजोगे । श्रीपथासुभस्थाने । श्रीसाहि
असलेमसाहिराज्यप्रवर्त्तमाने । श्रीजैनसंघे ब्रह्मदीप तत्
शिष्यणी शीलतोयतरंगिणी बाई देवखालिखापितं आत्मार्थे ।
ज्ञानवान् ज्ञानदानेन इत्यादि चार श्लोक.

इस प्रशस्ति से हमें ज्ञात होता है कि यह प्रति विक्रम संवत् १६०३
तदनुसार सन् १५४६ ईस्वी में लिखी गई थी और उस समय दिल्ली के तख्त
पर साह असलेमघाह (शेरशाह सूर का बेटा सलीमशाह सूर) था । यह
उल्लेख मुगल व शूरवंश के इतिहास के लिये महत्वपूर्ण है ।

प. प्रति जयपुर के पाटोदी जैन मंदिर की है । पत्र संख्या-३९;
दोहों की संख्या- २२४. होंसिये पर टिप्पण है ।

अन्त- इति उपासकाचारे आचार्य श्री लक्ष्मीचन्द्रविरचिते
दोहकसूत्राणि समाप्तानि । स्वस्त संवत् १५५५ वर्षे
कार्तिक सु १५ सोमे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बला-
त्कारगणेऽमयविद्यानंदिपट्टे मल्लिभूषण ततिशय्य पं लक्ष्मण-
पठनार्थं दोहाश्रावकाचार ।

यह प्रति वि सं १५५५ तदनुसार सन् १४९८ ईस्वी की लिखी हुई
है । अतः प्राप्त पंथियों में जिनमें लिखने का समय पाया जाता है उन सब में
प्राचीन है । दुर्भाग्य से इस प्रति का पूरा २ मिलान करने की सुझे सुविधा
न मिल सकी ।

प. २. यह प्रति भी उपर्युक्त पाटोदी मंदिर की है । पत्र संख्या-
११, दोहों की संख्या- २२४. लिखने का समय नहीं दिया गया ।

प ३. यह प्रति भी उपर्युक्त पाटोदी मंदिर की है । पत्र संख्या-
१४; दोहों की संख्या- २०७, लिखे जाने का समय- संवत् १६१२
वैसाख सु ११.

प. ४ यह प्रति भी उपर्युक्त पाटोदी मंदिर की है। पत्र संख्या-८; दोहों की संख्या- २२७, लिखे जाने का समय नहीं दिया है।

भ. प्रति भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, की नं. १३०८/१८९१-९५ की है। पत्र संख्या- १००, आकार- $१०\frac{3}{8}'' \times ५''$; पंक्तियां प्रतिपृष्ठ-४; वर्ण प्रतिपंक्ति- लगभग २८; हांसिया ऊपर नीचे- १'', दूँये वॉये- १३''. इसमें दोहों की संख्या २२५ है। दोहा नं. २०० व २१९ नहीं हैं तथा तीन दोहे अधिक हैं [परिशिष्ट देखिये]। किन्तु नंबर देने में त्रुटि के कारण अन्तिम दोहे का नं. २२६ आया है। यह प्रति सटीक है। इसके पाठों व टीका का उपयोग प्रस्तुत ग्रन्थ की 'टिप्पनी' में किया गया है। टीका का विशेष परिचय आगे दिया जायगा।

प्रारम्भ- अथ प्राकृत दोधकबंध उपासकाचार लिध्यते।

अन्त- इति श्रावकाचारदोहकं लक्ष्मीचन्द्रकृत समाप्तं। श्री।

मूलं योगीन्द्रदेवस्य लक्ष्मीचन्द्रस्य पंजिका।

श्रुति प्रभाचन्द्रमुनेर्महती तत्त्वदीपिका ॥ १॥

भ. २. यह प्रति भी उपर्युक्त भाण्डारकर इंस्टीट्यूट की है। और संवत् १५९३ की लिखी हुई है। दोहों की संख्या २२४ है तथा ग्रंथ का नाम 'श्रावकाचार दोहडा' दिया गया है।

भ. ३. यह प्रति भी उपर्युक्त भाण्डारकर इंस्टीट्यूट की है। इसमें दोहों की संख्या २२४ है। १० वें दोहे का पाठ अ प्रति के समान है (पाठभेद देखिये)। वह संवत् १५९९ की लिखी हुई है।

अन्त- इति उपासकाचारे आचार्यलक्ष्मीन्द्रविरचिते दोहक-
सूत्राणि समाप्तानि।

उपर्युक्त दोनों प्रतियां रत्नकार्ति के शिष्य आर्य व ब्रह्म बहोडन के लिये लिखी गई हैं। वे उपर्युक्त इंस्टीट्यूट के नं. ९९२/१८८७-९१ के एक

ही गुटके में बंधी हुई हैं। इन प्रतियों को हमने नहीं देख पाया। उनका परिचय हमें हमारे मित्र श्रीयुक्त ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., अर्धमागधी प्रोफेसर, राजाराम कालेज, कोल्हापुर, के एक पत्र से प्राप्त हुआ है।

२ ग्रन्थकर्ता

यह ग्रन्थ किसका बनाया हुआ है यह प्रश्न बड़ा जटिल है। ग्रन्थ के मूलभाग में कर्ता का कहीं, कोई, किसी प्रकार का भी उल्लेख नहीं पाया जाता। किन्तु जिन हस्तलिखित प्रतियों का ऊपर परिचय दिया गया है उनमें से अनेक के अन्त में ग्रन्थसमाप्तिसूचक वाक्यों में ग्रन्थकर्ता का नामोल्लेख किया गया है। हम यहाँ इन्हीं उल्लेखों की सूक्ष्म जांच कर सच्चे ग्रन्थकर्ता के पता लगाने का प्रयत्न करेंगे।

तीन पौथियों (प; भ; म. ३.) में यह ग्रन्थ लक्ष्मीचन्द्रकृत या विरचित कहा गया है। विद्यानन्दि के शिष्य श्रुतसागर कृत षट्प्राभृत टीका में इस ग्रन्थ के आठ दोहे उद्धृत किये गये हैं और दो स्थानों पर उन दोहों के कर्ता स्पष्ट रूप से लक्ष्मीचन्द्र या लक्ष्मीधर कहे गये हैं— 'तथा चोक्तं लक्ष्मीचन्द्रेण गुरुणा', 'तथा चोक्तं लक्ष्मीधरेण भगवता'। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के द्योतक हैं। इससे भी उक्त प्रतियों के कथन की पुष्टि होती है। षट्प्राभृतटीका की प्रकाशित पुस्तक की भूमिका में जो श्रुतसागर का परिचय दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि लक्ष्मीचन्द्रजी उनके समसामयिक थे तथा उनकी गुरुपम्परा इसप्रकार थी— विद्यानन्दि— मल्लिभूषण— लक्ष्मीचन्द्र। उनकी एक चेली ने आशुधर कृत 'महाभिषेकभाष्य' का अपने हाथ से लिखकर संवत् १५८२ में पूरा किया था। इन उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मीचन्द्रजी ही प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता थे, तथा वे संवत् १५८२ के लगभग हुए हैं।

किन्तु भ प्रति में जो अन्तिम श्लोक है उससे इस कथन की सत्यता में सन्देह उपस्थित हो जाता है। इस श्लोक में प्रस्तुत ग्रन्थ के साथ

तीन नामों का सम्बन्ध बतलाया गया है—मूलग्रन्थकार योगीन्द्रदेव, पंजिका-कार लक्ष्मीचन्द्र और वृत्तिकार प्रभाचन्द्र मुनि। इसी कथन के साथ साथ प. प्रति के अन्तिम वाक्य पर विचार कीजिये। उस वाक्य में कहा गया है कि संवत् १५५५, कार्तिक सुदि १५, सोमवार को विद्यानन्दि के पट्ट पर अधिष्ठित मल्लिभूषण के शिष्य पं लक्ष्मण के पठनार्थ दोहकश्रावकाचार लिखा गया। हमारा अनुमान है कि लक्ष्मण लक्ष्मीचन्द्र का दीक्षित होने से पूर्व का नाम है और उन्हीं की शिष्यावस्था में उनके पठनार्थ वह प्रति तैयार हुई थी। इससे निश्चय होगया कि लक्ष्मीचन्द्रजी इन दोहों के मूलकर्ता नहीं हैं। उनको बनाई हुई 'पंजिका' कौनसी है इसपर आगे चलकर विचार किया जायगा। प. प्रति में जो 'लक्ष्मीचन्द्रविरचिते' वाक्य आगया उसी से पण्डितों के लिपिकारों ने तथा श्रुतसागरजी ने धोखा खाया। यथार्थ में वहां 'श्री लक्ष्मीचन्द्रलिखिते' या श्रीलक्ष्मीचन्द्रार्थलिखिते' पाठ होना चाहिये था। लक्ष्मीचन्द्रकृत अन्य कोई संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश ग्रन्थ हमारे देखने सुनने में नहीं आया।

ग्रन्थकर्ता की खोज में अब हमारी दृष्टि योगीन्द्रदेव पर जाती है जो अ. और म. प्रति में इस ग्रन्थ के कर्ता कहे गये हैं। योगीन्द्रदेव के अबतक चार ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—परमात्मप्रकाश, योगसार, अमृताशीति और निजात्माष्टकम्। इनमें से प्रथम दो प्रस्तुत ग्रन्थ के समान ही अपभ्रंश दोहों में रचे गये हैं। तीसरा ग्रन्थ संस्कृत व चौथा प्राकृत में है। श्रीयुक्त उपाध्ये ने एक अंग्रेजी लेख में प्रस्तुत ग्रन्थ व परमात्मप्रकाश का मिलान कर यह मत प्रकट किया है कि इन दोनों की रचना में एक दो जगह साधारण साम्य को छोड़ कोई स्मरणीय सादृश्य नहीं है। हमने ग्रन्थकार के सभी ग्रन्थों को इसी हेतु से देखा। तीन ग्रन्थों में से तो कोई सादृश्य नहीं मिला किन्तु परमात्मप्रकाश में निम्न लिखित उक्तियों पर दृष्टि अटकती। मिलान की सुविधा के लिये हम प्रस्तुत ग्रन्थ के अवतरणों के साथ साथ इन्हें यहाँ लिखते हैं —

परमात्मप्रकाश

साधनचम्पू

- ८ भावें पणविधि पंचगुरु
 २०३ मरगठ जेण वियाणिमउ
 तहि कर्चि कउ गणु ।
 २१८ खीला लरिगवि ते जि मुणि
 देउल देउ बहंति ।
 २२१ अत्थउ कर्हि मि कुडिलियइं
 २३९ रुवि पर्यंगा सहि मिय ...
 २४१ लोहइं लरिगवि हुयवहइं
 पिकखु पडंतउ तोडु ।
 २६८ मूलविणटुइं तरुवरइं अवसइं
 सुकहिं पणु ।
 २९२ लुइइ मोहु तडति तसु

- १ पणवेपिणु भावें पंचगुरु
 २ जिम मरगठ कचवेण
 १०६ देउल लरिगय खिलियइं
 कि म पलोइइ सुकखु ।
 ११२ जाम ण देहकुडिलियइं
 १२६ रुवासत पर्यंगडा ...
 १३४ लोहमुकु सायर तरइ
 पेक्खु परोहण तेम ।
 ४५ अह कंदलि उप्पाडियइं बेळिइे
 पत्त समत ।
 १०० फुडिबि जाइ तडति

अब प्रश्न यह है कि क्या अ. और भ. प्रति के कथन तथा उपर्युक्त सादृश्य पर से यह ग्रन्थ योगीन्द्रदेवकृत कहा जा सकता है? सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन सादृश्यों में हमें ऐसा एक भी नहीं दिखता जो आकस्मिक न हो सकता हो। फिर, भाषा को छोड़ कर जब हम विषय पर आते हैं तो योगीन्द्र के ज्ञात ग्रन्थों तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में बड़ा अन्तर मिलता है। योगीन्द्र यथार्थ नाम योगीन्द्र ही थे। उनके सब ग्रन्थ अध्यात्म तत्त्वों से ओतप्रोत हैं। उनका उपदेश आदि से अन्त तक यही है कि बाह्य क्रियाओं व आहम्बरों में कुछ तथ्य नहीं है। अपनी आत्मा में लीन होने से ही सच्चा सुख मिल सकता है। योगीन्द्र को सृष्टि आत्ममय दिखती थी। उनके विचार वेदान्तियों जैसे थे। वे देव, शास्त्र, गुरु की पूजा के बहुत परे थे। उनके विचार से—

देउलु देउ वि सत्थु गुरु तित्थु वि वेउ वि कब्बु ।

वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥पर. २५७॥

कासु समाहि करउं को अंचउँ ।

छोपु अछोपु करिवि को वंचउँ ॥

इल सइ कलहि केण सम्माणउँ ।

जहिं जहिं जोवउं तहिं अप्पाणउँ ॥ योग. ३०. ॥

इन विचारों को लेकर यह संभव नहीं जान पड़ता कि उन्होंने दान, पूजा, उपवासादि के महत्त्व के प्रतिपादक प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की होगी। यह हो सकता है कि उन्होंने योगीन्द्र होने से पूर्व गृहस्थावस्था में ही इस ग्रन्थ की रचना की हो। किन्तु एक तो इस ग्रन्थ में उनकी भावी अध्यात्मिकता के कोई विशेष लक्षण नहीं पाये जाते। दूसरे कवित्व की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ योगीन्द्र के अन्य ग्रन्थों से अधिक प्रौढ़ जन पड़ता है। अतः एक ही ग्रन्थकार की कृति मानने पर उसे इन ग्रन्थों से पूर्व रचित कहना उपपन्न नहीं जँचता।

ग्रन्थकार के सम्बन्ध में हमें जो तीसरा संकेत मिलता है वह क. प्रति के अन्तिम दोहे में है। उसमें यह ग्रन्थ 'देवसेन उवदिट्ठु' अर्थात् देवसेन द्वारा उपदिष्ट कहा गया है। दिगम्बर जैन ग्रन्थकारों में देवसेन एक सुप्रसिद्ध प्रकृत कवि हुए हैं। उनके प्रकाशित ग्रन्थ दर्शनसार, आराधनासार, तत्वसार, नयचक्र, आलाप पद्धति व भावसंग्रह— इस समय हमारे सन्मुख हैं। आलापपद्धति को छोड़ शेष सब ग्रन्थ प्राकृत भाषा में रचे गये हैं। दर्शनसार को छोड़ शेष सब माणिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ से साम्य की खोज में हमने इन सब को देख डाला। भावसंग्रह में हमें हमारे ग्रन्थ से कुछ विशेष सादृश्यतायें मिली हैं। उन्हें हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

सावयधम्मदोहा

भावसंग्रह

३ जिह समिलहिं सायर गयहिं
दुल्लहु जूमहु रंधु ।
तिह जीवहं भवजलगयहं
मणुयत्तणि संबंधु ॥

१६९ अहवा जइ कहव पुणो
पावइ मणुयत्तणं च संसारे ।
जुयसभिला संजोए
लहइ ण देसो कुलं आऊ ॥

२२ मज्जु मंसु महु परिहरहि
करि पंचुंबर दूरि ।

३५६ महुमज्जमंसविरई
चाओ पुण उंभराण पंचण्हं ।

८१ दंसण रहिय कुपत्ति जह
दिण्णइ ताह कुभोउ ।

५३३ कुच्छियपत्ते किं चि वि
फलइ कुदेवेसु कुणरतिरणसु ।

८२ हयगयसुणहहं दारियहं
मिच्छादिट्टिहिं भोय ।

५४४ केई पुण गयतुरया
गेहे रायाण उण्णहं पत्ता ।

८३ तं अपत्तु आगमि भणित्त
णउ वयदंसणु जासु ।
णिप्फलु दिण्णउ होइ तसु
जह ऊसरि कउ सासु ॥

५३२ ऊसरखित्ते बीयं सुवखे स्वखे
य णीरअहिसेओ । जह तह
दाणमवत्ते दिण्णं खु णिर-
त्थयं होइ ॥

८५ इक्कु वि तारइ भवजलदि
बहुदायार सुपत्तु ।
सुपरोहणु एकु वि बहुय
दीसइ पारहु गित्तु

५०९ जह णावा णिच्छिदा....
तारइ पारावारे....

५१० तह संसारसमुदे...
तारेइ गुणाहियं पत्तं ।

१६१ इक्कच्छिय पाहणभरिय
सुइइ णाव ण भंति

५४८ णावा जइ सच्छिदा
परमप्पाणं च उवाहिसल्लिम्मि
वोलेह तह कुपत्तं
संसार महोवही भमि ॥

- ८६ दाणु कुपत्तहं दोसडइ
बोलिज्जइ णहु भंति ।
पत्थरु पत्थरणाव कहिं
दीसइ उत्तारंति ॥
- १५२ गमणट्टियहं तरंडउ वि
अहव ण पावइ पारु ।
- २२१ लोहकज्जि दुत्तरतरणि
णाव विचारिय तेण ।
- ८९ काइं बहुत्तइं संपयइं
जइ किविणहं घरि होइ ।
- ९३ जो घरि हुंतइं धणकणइं
सुणिहिं कुभोयणु देइ ।
जम्मि जम्मि दालिहडउ
पुट्टि ण तहु छंडेइ ॥
- ९६ उत्तमाइं भोयावणिहिं
- ९७ घरि घरि दस कप्पयर जहिं
ते पूरहिं अहिलासु ।
- १३१ ष्हाणें सुज्झइं भंतिकउ
छित्तउ चंडालेण ।
- ५४७ पत्थरमया वि दोणी
पत्थरमप्पणयं च बोलेइ ।
जह तह कुच्छियपत्तं
संसारे चैव बोलेइ ॥
- १८७ जह पाहाणत्तरंढे
लमो पुरिसो हु तीरणी तोए।
सुइइ विगयाधारो...
- ५४९ लोहमए कुत्तरंढे
लमो पुरिसो हु तीरणीवाहे ।
- ५५९ किविणेण संचयघणं
ण होइ उवचारियं जहा तस्स ।
- ५१६ जो पुण हुंतइं धणकणइं
सुणिहिं कुभोयणु देइ ।
जम्मि जम्मि दालिहडउ
पुट्टि ण तहो छंडेइ ॥
- ५८७ पुण्णवलेणुव्वज्जइ
कहमवि पुरिसो य भोयभूसीसु।
भुंजेइ तत्थ भोए
दहकप्पतरुभवे दिव्वे ॥
- ५९१ पायव दसप्पयारा
चित्तिंयं दिंति मणुयाणं ।
- १७ मणइ जलेण सुद्धिं
२० को इह जलेण सुज्झइ
२३ ष्हंता वि ते ण सुद्धा
२४ किं कुणइ तेसु ष्हाणं

१७० सूक्तगमणि तलाउ	३९२ जह गिरिणई तलाए
१८६ अह सरवरि णइसारिणइं पाणिउ होइ अगाहु ।	अणवरयं पविसए सल्लि- परिपुण्णं ।
१८३ जलधारा जिणपयगयउ रयहं पणासइ णामु ।	३१९ गिरिणियगउ णइवाहो पविसइ सरम्मि जहाणवरयं ।
	४७० पसमइ रयं असेसं जिणपयकमलेसु दिण्ण जल- धारा ।

इन अवतरणों में भाव, भाषा व उक्तिविशेष का सादृश्य विचारणीय है। इसके अतिरिक्त कुछ शब्दों का साम्य भी उल्लेखनीय है—

कप्पड (सा. ५६, भा. ५७३). छंड या छड्ड (सा. ३९ आदि, भा. २११ आदि); तलाअ (सा. १७०, भा. ३९२); एवड्ड (सा. १७९, भा. ४१५); चड्डप्पड (सा. १२४, १५८, भा. ४५); तरंड (सा. १९२, भा. ५४९), कंज (सा. १२५, भा. ४४९). ४१ वें दोहे का पुट्टिमंस संभव है १७३ वीं गाथा के 'पिठर' का ही बोधक हो (देखो ४१ दोहे की टिप्पणी)।

यथार्थ में सावयधम्म के २२४ दोहे व भावसंग्रह की ३५० से ५९९ तक की २५० गाथाओं के विषय, भाव व भाषा में असाधारण सादृश्य है। कहीं एक ही विषय दोनों में एकही प्रकार से आया है, जैसे—

१. पात्र और दान का विवेक— सा. ७९ आदि, भा. ४९७ आदि.
२. घृतादि सर्वरसाभिषेक — सा. १८१ आदि; भा. ४३८ आदि.
३. अष्टद्रव्यपूजा और फल — सा. १८४ आदि; भा. ४७१ आदि.
४. धर्म से स्वर्गादि सुख और मोक्ष—सा. १६३ आदि; भा. ४८४ आदि.

किसी किसी विषय का एक ग्रन्थ में उल्लेख मात्र तथा दूसरे में उसका पूरा विवरण मिलता है, जिससे ये दोनों ग्रन्थ एक दूसरे के परिपूरक से ज्ञात होते हैं; जैसे—

१. अष्टमूलगुण व चारह व्रत का भावसंग्रह की ३५२ व ३५६ वीं गाथाओं में उल्लेख मात्र है। सावयधम्म के १० से ५२ तक के ४३ दोहों में इन्ही का सविस्तर वर्णन है।

२. भावसंग्रह की ३७५ वीं गाथा में तीर्थकर के अष्ट प्रातिहार्य का उल्लेख मात्र है। सावयधम्म में उन आठों का आठ दोहों (१७०-१७७) में काव्य की रीति से वर्णन है।

३. सावयधम्म के २१२ वें दोहे में सिद्धचक्र की स्थापना का बहुत सूक्ष्म उल्लेख है। इसी विषय का भावसंग्रह की ४४३-४५६ गाथाओं में बहुत विशद वर्णन है।

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों में एक ही कर्ता का हाथ दिखाई देता है। विशेषतः सावयधम्म का जो ९३ वां दोहा भाव संग्रह के ५१६ नं. पर जैसा का तैसा पाया जाता है उससे इस विषय में बहुत कम सन्देह रह जाता है। भावसंग्रह जिन दो हस्तलिखित प्रतियों पर से छपाया गया है उनमें से एक प्रति में यह दोहा 'उक्त च' रूपसे पाया गया है। किन्तु अधिक पुरानी प्रति में 'उक्तं च' शब्द नहीं है। यदि 'उक्तं च' शब्द मूल के ही मान लिये जाय तो इससे यही सिद्ध होता है कि सावयधम्म की रचना भावसंग्रह से पूर्व हो चुकी थी और कर्ता ने उस दोहे को यहाँ प्रसंगोपयोग्य जान उद्धृत कर दिया। ऐसी द्विरुक्ति देवसेनजी के अन्य ग्रन्थों में भी पाई जाती है। इसी भावसंग्रह में उनके दर्शनसार की अनेक गाथाएँ आई हैं। उक्त दोहे का पीछे का प्रक्षिप्त मानने का न तो कोई प्रमाण है और न कोई कारण।

एक और बात है जो प्रस्तुत ग्रन्थ को देवसेनकृत स्वीकार करने में सहायता पहुँचाती है। देवसेनकृत जिन ग्रन्थों का उल्लेख हम ऊपर कर

आये हैं उनमें एक 'नयचक्र' भी है। माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में यह लघु नयचक्र के नाम से छपा है और उसी के साथ एक और बृहत् नयचक्र छपा है जो माहल्लदेवकृत है। मिलान करने से ज्ञात हुआ है कि बृहत् नयचक्र में लघु नयचक्र पूरा गुंथा हुआ है। यदि हम पहले को दूसरे का परिवर्धित रूप या दूसरे को पहले का संक्षिप्त रूप कहें तो अनुचित न होगा। इस परिवर्धित रूप के अन्त में निम्न लिखित चार गाथाएँ पाई जाती हैं—

सुणिऊण दोहरत्थं सिग्घं हसिऊण सुहंकरो भणइ ।

एत्थ ण सोहइ अत्थो गाहाबंधेण तं भणइ ॥ ४१८ ॥

सियसइसुणयदुण्णयदणुदेहविदारणेक्कवरवीरं ।

तं देवसेनदेवं णयचक्कयरं गुरुं णमइ ॥ ४२१ ॥

दव्वसहावपयासं दोहयबंधेण आसि जं दिट्ठं ।

गाहाबंधेण पुणो रइयं माहल्लदेवेण ॥ ४२२ ॥

दुसमीरणेण पोयप्पेरिय संतं जइ तिरं णट्ठं (?) ।

सिरिदेवसेणमुणिणा तइ णयचक्कं पुणा रइयं ॥ ४२३ ॥

इन गाथाओं का अर्थ की दृष्टि से क्रम ठीक नहीं जान पड़ता तथा ४२३ वीं गाथा का पाठ कुछ भ्रष्ट है अतएव उसका भाव भी कुछ अस्पष्ट है। किन्तु मेरी समझ में इनका भाव यह आता है कि कोई प्राचीन नयचक्र अप्रसिद्ध होगया था उसका पुनरुद्धार करने की दृष्टि से देवसेन ने फिरसे उसकी रचना की *। यह रचना दोहाबंध में हुई जिसे सुनकर एक शुभंकर महाशय ने हँस दिया और कहा कि यह अर्थ इस छंद में नहीं सेहता, इसे गाथाबद्ध करो। तदनुसार उनके शिष्य माहल्लदेव ने उसे गाथाओं में परिवर्तित किया।

* देवसेनजी को प्राचीन रचनाओं की खोजकर उनके पुनरुद्धार की बड़ी रुचि थी। दर्शनसार में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि पुरानी गाथाओं का संचय करके ही उन्होंने उस ग्रन्थ को रचा।

यदि उक्त गाथाओं का यही ठीक भावार्थ हो तो हमें उससे दो बातें ज्ञात होती हैं। एक तो यह कि दोहा छंद का आविष्कार उस समय संभवतः नया था और पंडित-मंडली में वह हेय दृष्टि से देखा जाता था। दूसरी यह कि देवसेन को इस छंद में ग्रन्थरचना करने की रुचि थी। उनके भाषसंग्रह में ही पांच पद्य अपभ्रंश भाषा के रड्डा छंद के पाये जाते हैं और शेष भाग में भी अपभ्रंश भाषा का अधिक प्रभाव दिखता है। नयचक्र का विषय पाण्डित्यपूर्ण न्याय था। अतः 'शुभंकर' के कुचक्र से उसका दोहाबद्ध रूप नष्ट कर दिया गया। किन्तु सावयधम्म साधारण गृहस्थों के लिये लिखा गया था इससे यह उस कुचक्र से बच गया।

सौभाग्य से देवसेनजी के समय व देश के सम्बन्ध में कोई अनिश्चय नहीं है। उन्होंने अपने दर्शनसार ग्रन्थ के अन्त में स्पष्ट रूप से कह रक्खा है कि उन्होंने उस ग्रन्थ की रचना धारा नगरी के पार्श्वनाथ मंदिर में बैठकर संवत् ९९० की माघ सुदि १० वीं को समाप्त की। यथा—

‘ पुन्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण पयत्थ ।

सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण ॥ ४९ ॥

रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए ।

सिरि पासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥ ५० ॥

धारा नगरी व मालवा प्रान्त में सदैव विक्रम संवत् का प्रचार रहा है तथा दर्शनसार में अन्यत्र जहां जहां संवत् का उल्लेख आया है वहां कर्ता ने स्पष्टतः 'विक्रमकालस्स मरणपत्तस्स' ऐसा कहा है। इससे उपरोक्त संवत् के भी विक्रम संवत् होने में कोई सदेह का स्थान नहीं है। धारा-नगरी विद्वानों के जुटाव के लिये प्राचीन काल में प्रसिद्ध ही रही है। प्राकृत भाषा का भी यहाँ अच्छा पठन होता रहा है। उपलब्ध प्राचीनतम प्राकृत कोष 'पाइयलच्छी-नाम-माला' की रचना भी जैन कवि धनपाल ने

विक्रम संवत् १०२९ में यहीं की थी व यहां के निवासी प्रधाचन्द्र पंडित ने विक्रम संवत् १११२ के आसपास पुष्पदन्त के अपभ्रंश काव्यों पर टिप्पण लिखे थे। (देखो गायकुमारचरित, भूमिका)।

अतः सिद्ध हुआ कि प्रस्तुत सावयधम्मदोहा के कर्ता देवसेन हैं, उसकी रचना विक्रम संवत् ९९० के लगभग मालवा प्रान्त की घारा नगरी में हुई है तथा यह ग्रन्थ दोहा छंद का एक प्राचीनतम उदाहरण है।

३ ग्रन्थ का नाम, प्रचार, टीकाटिप्पणी व परम्परा.

इस ग्रन्थ का विषय श्रावकों का धर्म व आचार है। इस विषय के जैन ग्रन्थों का नाम प्रायः श्रावकाचार व उपासकाचार ही रखा जाता है। तदनुसार ही प्रस्तुत ग्रन्थ अधिकांश पौधियों में ' श्रावकाचार दोहक ' या ' उपासकाचार ' कहा गया है। किन्तु मूल ग्रंथ में यह नाम कहीं नहीं पाया जाता। ' श्रावकाचार ' शब्द तक मूल ग्रन्थ में कहीं नहीं आया। ग्रन्थ कर्ता ने प्रथम ही दोहे में इसे ' सावयधम्म ' कहा है व अन्त में (२२२ वां दोहा) इसे ' धम्मघेणु संदोहयहं ' ' दोहों की धर्मघेनु ' कहा है। क. प्रति में ग्रन्थ का नाम ' दोहाबद्ध सावयधम्म ' दिया गया है। यही नाम कर्ता को अभीष्ट ज्ञात होता है। तदनुसार ही प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम ' सावयधम्म-दोहा ' रखा गया है।

जान पड़ता है गत शताब्दियों में इस ग्रन्थ का कुछ अच्छा प्रचार रहा है, इसी से इसकी हस्तलिखित प्रतियां दिल्ली, आगरा, जयपुर, बरार व पूना में पाई गई हैं। कई प्राचीन लेखकों ने इसके सुंदर दोहे अपनी कृतियों में उद्धृत किये हैं। ' दोहा पाहुड* ' में इसका एक दोहा (२१३) पाया जाता है। श्रुतसागर ने अपनी षट्प्राभृत टीका में इसके आठ दोहे (१०५, १०९-

* यह ग्रन्थ भी अपभ्रंश दोहों में है। इसे भी इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित करने का प्रबन्ध हो रहा है।

११२, १३९, १४८ और १५६) उद्धृत किये हैं जैसा कि ऊपर कह आये हैं। ब्रह्म नेमिदत्त कृत प्रीतिकरचरित में इसके दो दोहे (२८, ६७) पाये गये हैं। सूक्ष्म परिशीलन से और अनेक ग्रन्थ में इन दोहों के पाये जाने की सम्भावना है।

भ प्रति के अन्तिम श्लोक से हमें ज्ञात हुआ है कि इस ग्रंथ पर लक्ष्मीचन्द्र ने एक 'पंजिका' तथा प्रभाचन्द्रमुनि ने एक 'तत्त्वदीपिका' नामक 'वृत्ति' लिखी। किन्तु उस पोथी पर से यह नहीं ज्ञात हो सका कि उसपर की टीका इनमें से कौन सी है। उस प्रति के वेष्टन पर भण्डारकर इन्स्टीट्यूट के कर्मचारियों ने 'दोधक श्रावकाचार लक्ष्मीचन्द्र की पंजिका सहित' ऐसा लिख रखा है जिससे ज्ञात होता है कि उनकी समझ में वही टीका लक्ष्मीचन्द्र कृत पंजिका है। इसके लिये उनका आधार उक्त श्लोक के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखता। इसके निर्णय के लिये और कोई प्रमाण न पा हमारा ध्यान 'पंजिका' व 'वृत्ति' के अर्थ व भेद पर जाता है। हेमचन्द्राचार्य ने टीका व पंजिका की परिभाषा इस प्रकार की है 'टीका निरन्तरव्याख्या पञ्जिका पदभञ्जिका' और इसकी टीका है 'सुगमानां विषमार्थां च निरन्तरं व्याख्या यस्यां सा टीका। विषमार्थैव पदानि भनक्ति पदभञ्जिका'। इससे हमें ज्ञात हुआ कि लगातार व्याख्या का नाम टीका और केवल कठिन शब्दों की व्याख्या का नाम पञ्जिका है। हम 'वृत्ति' की भी कोई प्राचीन परिभाषा जानना चाहते थे किन्तु वह हमें फिर हाल कहीं मिली नहीं। पर 'वृत्ति' का हम यह अर्थ समझते आये हैं कि उसमें मूल का सरल शब्दों में अनुवाद दिया जाता है जिसे अंग्रेजों में paraphrase कह सकते हैं। भ. प्रति की टीका हमें इसी प्रकार की ज्ञात होती है। उसे हम उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार पञ्जिका नहीं कह सकते। उसमें केवल विषम पदों की व्याख्या नहीं है किन्तु पूरे दोहे का सरलार्थ देने का प्रयत्न किया गया है। हमारा अनुमान है कि यह लक्ष्मीचन्द्रजी की 'पञ्जिका' नहीं किन्तु प्रभाचन्द्रमुनि की 'महती तत्त्वदीपिका वृत्ति' है।

इस वृत्ति में अन्तिम सात दोहों का अर्थ नहीं समझाया गया। हमने इस वृत्ति का उपयोग अपनी टिप्पनी में किया है। दो चार स्थानों पर इस वृत्ति से दोहों के अर्थ पर अच्छा प्रकाश पड़ा है और इसलिये हम इसके कर्ता का उपकार मानते हैं। किन्तु इस वृत्ति से कर्ता अपने लक्ष्य में कहां तक सफल हुए हैं यह टिप्पनी में स्थान स्थान पर उद्धृत अंशों से पाठकों को ज्ञात हो जावेगा। लेखक का साहस तो अवर्य प्रशंसनीय है किन्तु सत्य के नाते हमें कहना पड़ता है कि उनकी यह चेष्टा अधिकांश अनधिकार ही थी। उनके सन्मुख न तो मूल ग्रन्थ की शुद्ध कापी ही थी और न उनमें उसे शुद्ध कर सकने की शक्ति थी। वे अपभ्रंश भाषा के कुछ अच्छे जानकार ज्ञात नहीं होते। हां, विषय के जानकार अवर्य थे। उसी के सहारे बहुत कुछ अटकल पच्चू लिखते गये हैं। एकाध जगह तो उनका अटकल भी अटक गया (देखो दोहा नं. १३५ की टिप्पनी)। उनका संस्कृत का ज्ञान भी बहुत अधूरा था। वे लिङ्ग, वचन, तिङन्त कृदन्तादि के सब नियमों के परे थे। हम यह ऐसी त्रुटियों पर से नहीं कह रहे हैं जो लिपिकारकृत हों। उनकी भाषा में ऐसी त्रुटियाँ हैं जो लिपिमात्र के प्रमाद से नहीं हो सकतीं। वे कवित्व से भी सर्वथा हीन थे। मूल की सुन्दर सुन्दर उपमाओं व सूत्रों पर उन्होंने अपनी वृत्ति द्वारा पानी फेर दिया है। सारे ग्रन्थ में कठिनाई से दसवीस दोहे ऐसे होंगे जिनका पूरा भाव और शब्दार्थ उनकी वृत्ति में आगया हो। पूर्णतः शुद्ध संस्कृत तो शायद किसी एक दोहे की वृत्ति में भी न मिलेगी। पहले विचार हुआ था कि इन वृत्तियों के कुछ नमूने यहाँ उद्धृत किये जाय और इस हेतु कितने ही दोहों की वृत्तियाँ लिख भी वाली थी। किन्तु पीछे उन्हें अनावश्यक जान छोड़ दिया। इस वृत्ति के विषय में हमने जो बातें यहाँ कही हैं उनके यथेष्ट प्रमाण टिप्पनी में उद्धृत अंशों में ही पाठकों को मिल जायेंगे।

ये वृत्तिकार कब कहां हुए इसके न तो कोई प्रमाण हमारे सन्मुख है और न इसकी कुछ जांच पड़ताल करने की इच्छा ही होती। हां, इतना

कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि यदि इसके कर्ता प्रभाचन्द्र नामधारी ही थे तो वे पुष्पदन्त के अपभ्रंश काव्यों पर टिप्पण लिखने वाले वे प्रभाचन्द्र नहीं हो सकते जिनका हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं। प्रभाचन्द्र नामके अनेक मुनि और कर्ता हुए हैं (देखो 'ररनकरण्ड आबकाचार भूमिका पंडित जुगलकिशोर मुख्तार कृत, व जैनशिलालेखसंग्रह भाग १)। यह कृति कोई बहुत प्राचीन ज्ञात नहीं होती।

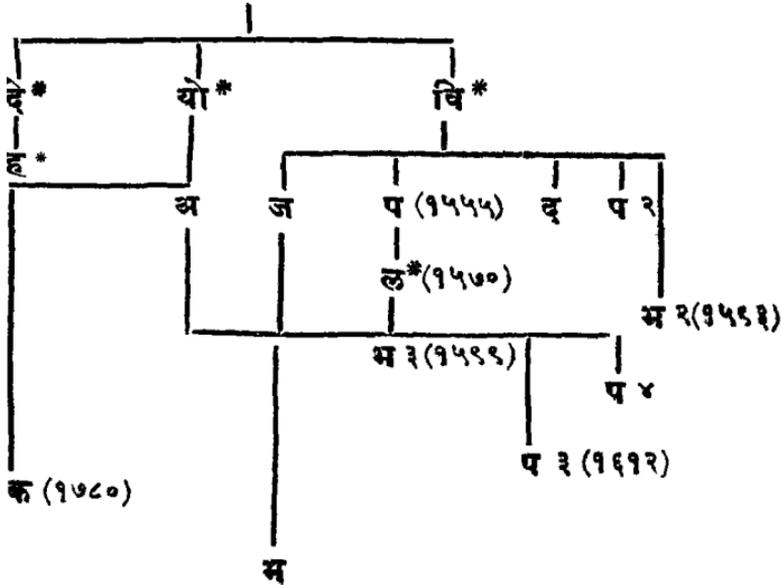
अब प्रश्न यह है कि इन दोहों की लक्ष्मीचन्द्रकृत 'पञ्जिका' कौनसी है। हमारा अनुमान है कि जो टिप्पण प. प्रति पर पाया जाता है वही वह पञ्जिका है। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार टिप्पण और पञ्जिका में कोई बड़ा भेद ज्ञात नहीं होता।

अब हम पूर्वोक्त पोथियों की विशेषताओं पर से इस ग्रन्थ की परम्परा का कुछ अनुमान कर सकते हैं। देवसेनकृत मूल ग्रन्थ वि सं. ९९० के लगभग तैयार हुआ। आगामी पांच सौ वर्षों में इसकी तीन प्रकार की प्रतियाँ प्रचलित होगईं। एक में कर्ता का नाम देवसेन पाया जाता था इसलिये हम इसे दे. प्रति कहेंगे। इसी पर से ह. अर्थात् हृदयनगर की वह प्रति तैयार हुई जिसमें ग्यारह दोहे और जुड़ गये तथा जिसपर से संवत् १७८० में हमारी क. प्रति तैयार हुई। दूसरी प्रति में परमात्मप्रकाश की भाषा व छन्द के साम्य पर से ग्रन्थ के कर्ता का नाम योगीन्द्रदेव जुड़ गया था। इसमें दोहों की संख्या २२४ थी। इसे हम यो. कहेंगे। इसी पर से हमारी अ. प्रति तैयार हुई होगी। हम कह चुके हैं कि अ. प्रति के पाठ क. से बहुत कुछ भिन्नते हैं अतएव इसका ह. से भी कुछ सम्बन्ध ज्ञात होता है। तीसरी प्रति में दोहों की संख्या २२३ या २२४ थी किन्तु कर्ता का नाम कोई भी नहीं पाया जाता था इसे हम वि. प्रति कहेंगे। इस पर से हमारी पांच प्रतियाँ (ज, प, द, प २ और भ २) तैयार हुईं प्रतीत होती हैं। प. प्रति गुजरात में महिभूषण के शिष्य लक्ष्मण ने सं. १५५५ में लिखाई। आगे चलकर ये ही लक्ष्मण लक्ष्मीचन्द्रके नाम से महिभूषण के उत्तराधिकारी

हुए। म. प्रति के अनुसार उन्होंने इस ग्रंथ की पंजिका बनाई जो प. प्रति पर का टिप्पण ही ज्ञात होता है।

हमारा अनुमान है कि म. प्रति वाले तीन अधिक दोहे भी लक्ष्मीचन्द्रजी के ही बनाये हुए हैं। इस प्रकार उनकी तैयार की हुई (क.) प्रति में २२७ दोहे होगये, जिस पर से २२७ दोहों वाली हमारी तीन प्रतियां [म ३, प ३, प ४] तैयार हुईं। म. प्रति में तीन अधिक दोहे हैं, योगान्द्रदेव मूल ग्रन्थकार कहे गये हैं तथा २१९ वां दोहा नहीं है। अतः उसका सम्बन्ध ल. अ. और ज. तीन प्रतियों से था। इस परम्परा को हम वृक्ष द्वारा और भी स्पष्टता से व्यक्त कर सकते हैं। जिन प्रतियों के नाम के साथ * यह चिन्ह है वे अबतक मिली नहीं हैं।

मूल [वि. सं. ९९०]



एक प्रश्न और है जिस पर भी यहां कुछ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। दोहा नं. २२२ में जो कुछ कहा गया है उससे ज्ञात होता है कि उसके ऊपर के दोहों की संख्या मूलतः २२० थी। यद्यपि अ. प्रति में ' विसुत्तरइं ' की जगह ' वावीसुत्तरइं ' पाठ है पर वह स्पष्टतः कल्पित है। अब प्रश्न यह है कि वह कौन सा दोहा है जो मूल में नहीं था तथा जिसके कारण हमारे दोहों की संख्या २२० की जगह २२१ होगई है। जैसा उपर कह आये है, ज. और म. प्रतियों में दोहा नं. २१९ नहीं है। क्या वही दोहा पीछे का जोड़ा हुआ है? वह दोहा इतना सुन्दर तथा ग्रंथकार की शैली के इतना अनुकूल है कि उसे प्रक्षिप्त मानने को जी नहीं चाहता यद्यपि दोहा नं २२१ की प्रथम पंक्ति प्रायः वही होने से यह भी संभव जान पड़ता है कि वह प्रक्षिप्त हो। इसका यथार्थ निर्णय कर निकालना बड़ा कठिन है और इसकी कोई बड़ी आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। मर्वहरि आदि कृत शतकों में प्रायः सौ से अधिक ही दोहे पाये जाते हैं।

४ भाषा और व्याकरण.

प्रस्तुत ग्रन्थ धार्मिक उपदेश तथा सूक्ति की दृष्टि से तो सुन्दर है ही पर उसका और भी विशेष महत्व उसकी भाषा में है। जैन भंडारो की सूक्तियों में इस भाषा के ग्रन्थ प्रायः ' मागधी भाषा ' के नाम से दर्ज किए हुए मिलते हैं किन्तु यह भाषा न तो मागधी है और न अन्य शौरसेनी आदि प्राचीन प्राकृत। किन्तु इन प्राकृतों ने प्रचलित देशी भाषाओं के पूर्व जो रूप धारण किया था वही इन ग्रन्थों में पाया जाता है। यह उनका विकसित या अपभ्रंश रूप है और इसी से इस भाषा का नाम अपभ्रंश या अवहट्ट पड़ा। प्राकृत व अपभ्रंश भाषायें समय समय पर जनसाधारण की भाषायें रही हैं और इसीलिये वे अपने अपने समय में संस्कृत से भी अधिक मधुर और प्रिय गिनी जाती थीं। कर्पूरमञ्जरी के कर्ता राजशेखर

को संस्कृत और प्राकृत की रचना के माधुर्य में उतना ही अन्तर दिखता था जितना पुरुषों की कर्कशता और स्त्रियों की सुकुमारता में। उन्होंने कहा है—

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो ।
पुरुसमहिल्लाणं जेत्तिअमिहंतंरं तेत्तिअमिमाणम् ॥

[कर्पूर- १, ८]

विद्यापति ठकुर की देशी अर्थात् अपभ्रंश भाषा माधुर्य में संस्कृत व प्राकृत दोनों से बड़ी चढी दिखने लगी थी। उन्होंने अपनी ' कीर्तिलता ' में कहा है—

सक्कअवाणी बहुअ न भावइ
पाउअ रस को मम्म न पावइ ।
देसिलवअना सब जन मिट्टा
तैं तैसन जम्पओ अवहट्टा ॥

१०. वीं ११ वीं शताब्दि के लगभग यही भाषा समस्त उत्तर भारत में प्रचलित थी किन्तु देश भेद के अनुसार उसमें भेद थे। प्रस्तुत ग्रन्थ मालवा प्रान्त में लिखा गया है अतएव इसमें पश्चिम देश की अपभ्रंश भाषा पाई जाती है जिसका व्याकरण हेमचन्द्राचार्य ने अपनी प्राकृत व्याकरण में अच्छी तरह, खूब उदाहरणों सहित, दिया है। हमने ' गायकुमार-चरित ' की भूमिका में इस भाषा के व्याकरण का सविस्तर परिचय कराया है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ के पठन पाठन की सुविधा के लिये इसी ग्रन्थ पर से कुछ व्याकरण यहाँ भी दिया जाता है।

हिन्दी भाषा के साहित्य व इतिहास में इस भाषा के ग्रन्थों का क्या स्थान है यह सुस्पष्ट करने के लिये हिन्दी साहित्य के तीन प्राचीन ग्रन्थों—पृथ्वीराजरासो, वीरलदेवरासो और कीर्तिलता—से इसकी कुछ स्थूल रूप से यहाँ तुलना की जाती है—

१. कीर्तिलता में भैषिल देश का अपभ्रंश है जो मागधी प्राकृत से निकला हुआ है अतः उसमें ल, श और ष, वर्ण तथा प्र, द्र आदि संयुक्ताक्षर पाये जाते हैं। सावयधम्म का अपभ्रंश महाराष्ट्री प्राकृत का है अतः उसमें इन वर्णों का अभाव है।

२. कीर्तिलता में शब्दों के बीच में आये हुए अल्पप्राण वर्णों—क, ग, च, ज आदि—का बहुधा लोप नहीं हुआ। सावयधम्म में अधिकतः हुआ है और उनके स्थान पर कहीं कहीं य श्रुति पाई जाती है।

३. कीर्तिलता में परसर्गों का बहुत सूक्ष्म प्रादुर्भाव हुआ दिखाई देता है और प्राकृत विभक्तियां प्रायः उब गई हैं। विसलदेवरासो व पृथ्वीराजरासो में कहीं कहीं परसर्ग और कहीं कहीं संयोगात्मक विभक्तिरूप, प्रायः दोनों अवस्थायें पाई जाती हैं। सावयधम्म में विभक्तियां कायम हैं यद्यपि उनकी जड़ उखड़ चली है। किन्तु परसर्ग का विकास केवल षष्ठी के साथ 'तण', व सप्तमी के बोध के लिये 'मज्झि' में कुछ २ दिखाई देता है।

४. उक्त तीनों ग्रन्थों में मुसलमानी भाषा के संसर्ग का प्रभाव है जैसा कि चन्द बरदाई ने स्पष्टरूप से स्वीकार किया है—

‘षट् भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया।’

प्रस्तुत ग्रन्थ में मुसलमानी संसर्ग की गंध तक नहीं है। उसमें पुराण खूब है कुरान बिलकुल नहीं।

अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ का अनुवाद करने में मुझे एक और बात का अनुभव हुआ जिसे यहाँ प्रकट कर देना उचित जान पड़ता है। संस्कृत के अनेक क्रियापद ऐसे हैं जो अपभ्रंश में पाये जाते हैं और ब्रजभाषा आदि पुरानी हिन्दी में भी बहुत कुछ प्रचलित थे किन्तु जो प्रचलित खड़ी बोली में से लुप्त हो गये हैं। उनका अर्थ व्यक्त करने के लिये अब हमें उनके भूतकालिक कृदन्त व विशेषण या संज्ञायें बनाकर 'होना' व 'करना' क्रिया के साथ उनका उपयोग करना पड़ता है। उदाहरणार्थ—

संस्कृत	अपभ्रंश	पुरानी हिन्दी	प्रचलित रूप
नमति	गमइ	नमता है	नमन करता है
नयति	णासइ	नसता है	नष्ट होता है
प्रकाशते	पयासइ	प्रकाशता है	प्रकाशित होता है
मलिनायते	मइलेइ	मैलता है	मैला होता है
भक्षति	भक्खइ	भखता है	भक्षण करता है
वारयति	वारइ	वारता है	वारण करता है
प्रकटयति	पयडइ	प्रकटता है	प्रकट होता है।

ऐसे उदाहरण अनन्त हैं। यह मुझे भाषा में उच्चति की जगह अवनति का लक्षण दिखाता है। क्रियाओं का क्षेत्र घटना नहीं बचना चाहिये था। मेरी समझ में ऐसे क्रियापदों का हिन्दी में प्रयोग प्रारंभना चाहिये।

व्याकरण

१. सावयधम्म की अपभ्रंश भाषा में देवनागरी वर्णमाला के स्वरो में ऋ, ऐ व औ तथा व्यंजनों में ङ, ज, श और घ को छोड़ कर शेष सब वर्ण पाये जाते हैं। न की स्थिति कुछ अनिश्चित सी दिखती है। अधिकतः उसके स्थान पर ण ही मिलता है। प्रस्तुत संस्करण में सर्वत्र ण ही रखा गया है।

उपर्युक्त वर्णों के स्थान में निम्न लिखित आदेश होते हैं।

ऋ के स्थान में अ, इ उ या रि। यथा, कय-कृत, घय-घृत, अमिष-अमृत, किषिण-कृषण, धिय-घृत, मुअ-मृत, रिषि-ऋषि इत्यादि।

ऐ के स्थान में इ, यथा, विजावथ-वैयाघृत्य।

औ के स्थान में ओ या अउ। यथा, ओसइ-औषध, चोर-चौर, मउण-मौन।

ष व श के स्थान पर स । यथा, सोह-शोभा, कसाय-कषाय, देस-देश ।

ह् व ञ् के स्थान पर सर्वत्र अनुस्वार का उपयोग किया जाता है

संस्कृत भाषा के शब्द यहां प्रायः विकृत अवस्था में पाये जाते हैं । शब्द के मध्यवर्ती व्यञ्जनों में निम्न प्रकार विकार होते हैं—

अल्पप्राण व्यञ्जन का लोप व कहीं कहीं उसके स्थान पर य अथवा व का आदेश । यथा, वयण- वचन, पयासिअ- प्रकाशित, संखेव- संक्षेप, छेय- छेद, घाय- घात.

महाप्राण व्यञ्जनों के स्थान पर ह आदेश होता है । यथा, सुह- सुख, अह- अघ, उहय- उभय, दाहिमाहिअ- दाधिमथित, महु- मधु, मुत्ताहल- मुक्ताफल,

कही कही म के स्थान में व और व के स्थान में म पाया जाता है । यथा, रामण-रावण, सुवण- सुमनम् ।

य. के स्थान में ज पाया जाता है । यथा, जुय-युग, जस-यशः, जाण-यान ।

संयुक्ताक्षर से प्रारम्भ होने वाले शब्दों में संयोग के दूसरे वर्ण का लोप कर दिया जाता है । यथा, वय- व्रत, तिहुयण-त्रिभुवन, वसण-व्यसन सावय- थावक, साइ-स्वाति । शब्द के शेष भाग में असवर्ण संयोग सवर्ण संयोग में परिणत कर दिया जाता है । यथा, दुद्ध- दुग्ध, कप्परु- कल्पतरु, ककस-कर्कश, सुक्क-शुष्क, जुत्त- युक्त, णिप्फल- निष्फल, जण- अन्य ।

कुछ संयुक्ताक्षरों के स्थान पर विशेष वर्णों का आदेश होता है । यथा—

क्ष- कख, ख या छ, पच्चक्ख- प्रत्यक्ष, पेक्खण- प्रेक्षण, खम- क्षमा, छण- क्षण ।

ग्घ- ज्ञ, ढ्ढ- दग्ध ।

त्थ- च्छ, मिच्छत्त- मिथ्यात्त्व ।

त्य- च्च, सच्च- सत्य, चत्त- त्यक्त, विज्जावच्च-वैयावृत्य ।

द्य- ज्ज, सावज्ज- सावद्य, मज्ज- मद्य, जूअ- द्यूत ।

ध्य- ज्झ, मज्झिम- मध्यम, अज्झवसाय- अध्यवसाय,
सज्झाय- स्वाध्याय ।

ध्व- झु, झुणि- ध्वनि ।

प्स- च्छ, अच्छर- अप्सरस् ।

स्थ- ठ, ठाइ- स्थाति, अट्ठि- अस्थि ।

स्न- ष्ढ, ष्हाण- ज्ञान

२. संज्ञा

अधिकांश संज्ञायें अकारान्त पाई जाती हैं । हलन्त संज्ञाओं के अन्तव्यंजन का लोप करके वे अकारान्त बना ली गई हैं, यथा, जग-जगत्, तम-तमस् । द्विवचन बहुवचन में गर्भित हो गया है ।

कारकरचना

एकवचन

बहुवचन

	विभक्ति	उदाहरण		विभक्ति	उदाहरण
कर्त्ता	उ	दुज्जण, अमिउ, वासरु, कज्जु, सुहु, दुल्लहु, कंचण.	अ	णर, सप्प, वय, तस.	
कर्म	उ	धम्मु, पंचगुरु, दंसण, णेहु.	अ	दायार, णर, सुर.	
करण	एँ	संखेवें, सम्मत्तें, संगें, णाहक्कें. एण कच्चेण, सण्णासेण, पावेण. इँ मग्गइँ, उवएसइँ कारणइँ इण तमिण, जित्तइण, बद्धइण.			

सम्प्रदान हु	णरयहु, गोत्तहु, णिब्वाणहु.	हं	पत्तहं, चोरहं, जीवहं.
	हि मुणिहिं.		
अपादान हु	सायहु	हं	पंचुंबरहं.
सम्बन्ध हु	जूयहु, तिमिरहु	हं	चोरहं, वणयरहं,
	दिं, हिं सूरिहिं, समिल्लिहिं, ससिहिं.		वग्घहं, धीवरहं.
अधिकरण इ	जगि, मणुयत्तणि, अंधारहं,	हं	सरवरहं, सुक्कहं.
	लोइ, घरि.		
सम्बोधन अ	जिय, वड, णिलज.		

आकारान्त व ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्द बहुधा ह्रस्वान्त कर दिये जाते हैं, यथा, दय-दया, कह-कथा, वेयण-वेदना, भेरि-भेरी.

किन्तु वेसा, चेरी इत्यादि भी पाये जाते हैं। कर्ता व कर्म कारक में ये प्रकृतरूप ही रहते हैं। शेष कारकों में पुल्लिंग से कोई बड़ी विशेषता नहीं पाई जाती।

नपुंसक लिंग का लोप सा होता हुआ दिखता है। शेष कारकों में तो इनका कोई विशेष चिह्न दिखाई नहीं पड़ता पर कहीं कहीं कर्ता बहुवचन में ये पहिचान पड़ते हैं, यथा, वसणहं, सिक्खावयइं.

३. सर्वनाम

कर्ता	हउं (अहम्, मे हूं), कोइ, सोइ, सो, जं तं (नपुं.) एहु, इहु, एउ.
कर्म	अं, तं.
करण	पइं (त्वया, तूने), जेण, तेण.
सम्प्रदान	पइं (तुभ्यम्, तुझको), तहु.
सम्बन्ध	जसु, तासु, ताहं.

४. संख्यावाचक

- १ एक
- २ दुग्णि, विग्णि
- ३ तिग्णि
- ४ चयारि
- ५ पंच
- ६ छह
- ७ सत्त
- ८ अट्टु
- ९ णव
- १० दस
- ११ एयारह
- १२ बारह

पूरणार्थक

- पढमउ, पहिलउ.
 बीयउ, बिदिउ.
 तिज्जउ
 चउरथु
 पंचमु
 छट्टुउ
 सत्तमु
 अट्टुमु
 णवमउ
 दसमउ
 एयारहमउ

५. क्रियापद

क्रियाओं में परस्मैपद आत्मनेपद व भ्वादि अदादि का कोई भेद नहीं रहा। द्विवचन बहुवचन में गर्भित हो गया है।

वर्तमानकाल

एकवचन		बहुवचन	
प्रत्यय	उदाहरण	प्रत्यय	उदाहरण
उत्तम पु. मि, उं	अक्खमि, करउं.
मध्यम पु. हि, सि	अहिलछहि, डरहि, चाहहि, होसि.
अन्य पु. इ	होइ, पिंछइ, घरइ, करइ, वंदइ, पालइ, पियइ, हणइ.	अंति,	जांति, विपबंति, हुंति, हवंति णिति, भणंति. अइं उप्पज्जइं.

भूतकालिक क्रिया का कार्य प्रायः भूतकालिक कृदन्तों से निकाला जाता है। क्रिया का उदाहरण केवल एक मिल सका है, आसी-आसीत्।

भविष्यत्काल की क्रियाओं के उदाहरण भी बहुत थोड़े मिलते हैं, जाहि-यास्यसि (तू जायगा), फलहिं-फलष्यन्ति (फलेंगे), कुणहिं-करिष्यन्ति (करेंगे), होसि-भविष्यसि।

आदेश सूचक मध्यम पु हि देहि, गोवहि, छंडहि, णिवारहि।

हु रक्खहु

इ करि, छंडि, परिहरि, सुणि, मण्णि, म बोलि,

उ पिक्खु।

अन्य पु. उ अच्छउ, भाउ, जाउ।

विधिसूचक- करेइ, हणेइ।

कर्मणि प्रयोग- दिज्जइ, भुजिज्जइ, णव्विज्जइ, रक्खिज्जइ।

प्रेरणार्थक- कारयइ, उट्टुवइ।

वर्तमानकालिक कृदन्त-अंत-डज्जंत, सिंचंत, करत.ख्खंलिग-उत्तारंति।

भूतकालिक कृदन्त-अ, इअ, इय-हुअ, मुअ, गालिअ, भक्खिअ,
कहिय, छड्डिय, उप्पाडिय।

पूर्वकालिक अव्यय-एप्पिणु-पणवेप्पिणु (प्रणमकर),इय-इंछिय,गणिय,
विग्गासिय; इवि-फुट्टिवि, खडिवि, भुंजिवि, विहाडिवि।

क्रियार्थ क्रिया-(तुमुन्) इवि-कहिंवि ण सकइ,कथयितुं न शक्कोति।

६. अव्यय

समयसूचक-अज्जु, कलि, अंपइ, जाम।

स्थानसूचक-इत्थु, अंतरि, बाहिरउ, जहिं-तहिं।

प्रकार सूचक-जह-तह, जेम, केम।

अन्य-ण, णउ, ण हु, विणु, जइं, सइं, णिरारिउ, अहवा, पुणरवि।

सावयधम्मदोहा

ॐ

णमकारेपिणु पंचगुरु दूरिदलियदुहकम्मु ।
संखेवें पयडक्खरहिं अक्खमिं सावयधम्मु ॥ १ ॥
दुज्जणु सुहियउ होउ जमि सुयणु पयासिउ जेण ।
अमिउ विसें वासरु तमिणं जिम मरगउं कच्चेण ॥ २ ॥
जिहं समिलंहिं सायरंगयहिं दुल्लहुं जूयहुं रंधु ।
तिहं जीवहं भवजलगयंहं मणुयत्तेणि संबंधु ॥ ३ ॥
सुहु सारउ मणुयत्तणहं तं सुहु धम्मायत्तु ।
धम्मु वि रे^{१२} जिय तं करंहि जं अरहंतंइं वुत्तु ॥ ४ ॥
अरहंतु वि दोसहिं रहिउ जसुं पुणु केवलणाणु ।
णार्णेणुणियकालत्तयहं वयणु वि तासुं पमाणु ॥ ५ ॥

१ द. अक्खिय. २ क. जमहं; ज. द. तमहिं. ३ द.
मरगय. ४ ज. जह. ५ क. ज. द. समिला. ६ अ. सायरे.
७ ज. दुल्लहउ. ८ क. जूवह; द. जूअहिं. ९ ज. तह. १० ज.
गयहिं. ११ क. मणुवत्तणु. १२ अ. द. अरि. १३ ज. वरहि.
१४ अ. द. अरहंतं. १५ क. द. जासु वि. १६ अ. ज. णाणु.
१७ क. द. तस्स.

हिन्दी अनुवाद



१. नमस्कार दुःखकर्मों का नाश करने वाले पंचगुरु को नमस्कार करके मैं संक्षेप में, प्रकट शब्दों द्वारा, धावक-धर्म का व्याख्यान करता हूँ ।
२. दुर्जन संसार में सुखी होवे जिसने सज्जन को दुर्जन को अशीष प्रसिद्ध किया है, जिस प्रकार अमृत विषसे, दिन अंधकार से, व मरकत मणि कांच से [प्रकाशित होता है] ।
३. जिस प्रकार सागर में गिरे हुए सैले के लिये जूँवा मनुष्य जन्म का छिद्र दुर्लभ है उसी प्रकार भव-जल में पड़े हुए जीवों का मनुष्यत्व से सम्बन्ध दुर्लभ है ।
४. मनुष्यत्व का सार सुख है । वह सुख धर्म के धर्म अधीन है । धर्म भी, रे, जीव, वह पाल जो अरहंत का कहा हुआ है ।
५. अरहंत भी वह है जो दोषों से रहित हो व जिसे प्रामाणिक ज्ञान केवल ज्ञान हो । ज्ञान द्वारा त्रिकाल को जानने वाले उनके वचन भी प्रमाण हैं ।

तं पायड्डु जिणवरवयणु गुरुउवएसंइं होइ ।
 अंधारइं विणु दीवड्डं अहव कि पिंछइ कोइ ॥ ६ ॥
 संजम्मु सीलु सउच्चु तउ जसु स्वरिहि गुरु सोइ ।
 दाहल्लेयकसघायखम्मु उत्तम्मु कंचणु होइ ॥ ७ ॥
 मग्गइं गुरुउवएसियइं णर सिवपट्टणि जंति ।
 तं विणु वग्घइं वणयरइं चोरइं पिडि विपडंति ॥ ८ ॥
 एयारहविहु तं कहिउ रें जिय सावयधम्मु ।
 सत्तिए परिपालंतयइं सहलउ मणुसजम्मु ॥ ९ ॥
 पंचुंबरइं णिवित्ति जसुं विसणु ण एकु वि होइ ।
 सँम्मत्ते सुविसुद्धमई पढमउ सावउ सोइ ॥ १० ॥
 पंचाणुव्वय जो धरइ णिम्मल गुणवय तिण्णि ।
 सिक्खावयइं चयारि जसु सो बीयउ मणि मण्णि ॥ ११ ॥
 चउरट्टइं दोसइं रहिउ पुव्वाइरियकमेण ।
 जिणु वंदइ संझइ तिहि मि सो तिज्जउ णियमेणें ॥ १२ ॥

१ अ. ज द उवएसं. २ द. दीवइण. ३ ज द. ति.
 ४ ज. द. अरे. ५ अ. अट्टउ पालइ मूलगुण. ६ अ विसणु.
 ७ अ. क. जो सम्मत्तविसुं. ८ ज. मणु. ९ द वय गुण.
 १० द. णियमण्णि.

६. वह जिनवर का वचन गुरु के उपदेश से प्रकट
गुरु होता है। अंधकार में बिना दीपक के क्या कोई
कुछ पहिचान सकता है ?
७. जिस सूरि में संयम, शील, शौच और तप है वही
गुरु के गुण गुरु है। दाह, छेद और कश-घात के योग्य ही
उत्तम कंचन होता है ।
८. गुरु के उपदिष्ट मार्ग से नर शिवपुर को जाते हैं ।
गुरुपदेश उसके बिना वे व्याघ्र, वनचर और चोरों के पिंड
में पड जाते हैं ।
९. वह श्रावक धर्म, हे जीव, ग्यारह प्रकारका कहा
श्रावक धर्म गया है । शक्यनुसार उसका परिपालन करने
वालों का मनुष्य-जन्म सफल है ।
१०. जिसके पंच उदुम्बर से निवृत्ति है, व्यसन एक
दर्शन भी नहीं है तथा जिसकी मति सम्यक्त्व द्वारा
सुविगुह्य है वह प्रथम श्रावक है ।
११. जो पांच अणुव्रतों को धारण करता है और जिस
व्रत के तीन निर्भल गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं
उसे मनमें दूसरा [श्रावक] मानो ।
१२. जो पूर्वाचार्यों के क्रमानुसार बर्तीस दोषों से रहित
सामायिक होकर तीनों संध्याओं में जिनदेव की चन्दना
करता है वह नियम से तीसरा [श्रावक] है ।

उहयचउदसिअट्टमिहिं जो पालइ उववासु ।
 सो चउत्थु सावउ भणिउ दुक्कियकम्मविणासु ॥ १३ ॥
 पंचमु जसु कच्चासणहं हरियहं णाहि पवित्ति ।
 मणवयकायहिं छट्ठयहं दिवसहिं णारिणिवित्ति ॥ १४ ॥
 बंभयारि सत्तमु भणिउ अट्टमु चत्तारंभु ।
 मुक्कपरिग्गहु जाणि जिय णवमउ वज्जियदंभु ॥ १५ ॥
 अणुमइ देइ णं पुच्छियउ दसमउ जिणउवइट्ठु ।
 एयारहमउ तं दुविहु णं वि भुंजइ उदिट्ठु ॥ १६ ॥
 एयवत्थु पहिलउं विदिउ कयकोवीणपवित्ति ।
 कत्तरिलोयणिहियचिहुर सइं पुणु भोजणिवित्ति ॥ १७ ॥
 ए ठाणइं एयारसंइं सम्मत्तें मुक्काहं ।
 हुंति ण पउमइं सरवरहं विणु पाणिय सुक्काहं ॥ १८ ॥
 अत्तागमतच्चाइयहं जं णिम्मलु सद्धानुं ।
 संकाइयदोसहं रहिउ तं सम्म तु त्रियाणुं ॥ १९ ॥

१ ज. द. ँंभु. २ ज. णु. ३ द. णउ. ४ द. पहलउ.
 ५ ज. द. एयारहं वि. ६ क. द. प. णिम्मलु सइद्धानु. ७ अ.
 क. त्रियाण.

१३. जो दोनो चतुर्दशी और अष्टमी को उपवास पालता है वह दुष्कृत-कर्मों का विनाश करने वाला चौथा भ्रावक कहा गया है।
१४. पांचवां [भ्रावक] वह है जिसकी कच्चे भोजन व हरी शाक में प्रवृत्ति नहीं है। छठवें [भ्रावक] की दिन में मन वचन और काय द्वारा नारी से निवृत्ति रहती है।
१५. सातवां [भ्रावक] ब्रह्मचारी कहा गया है। आठवां आरम्भत्यागी है। हे जीव, परिग्रह से मुक्त, दम्भ से वर्जित रहने वाले को नवमां [भ्रावक] जानो।
१६. जो पूछने परभी अनुमति न दे उसे जिन भगवान् ने दशवां [भ्रावक] कहा है। ग्यारहवां दो प्रकार का है जो उद्दिष्ट भोजन नहीं करता।
१७. पहिला एकवस्त्रधारी, दूसरा कोपीनमात्रधारी। वह कैची या उस्तरे से केशों को कटवाता है और स्वयं भोजन नहीं बनाता।
१८. ये ग्यारह स्थान सम्यक्त्व से रहित जीवों के नहीं होते। विना पानी के सूखे सरोवरमें कमल नहीं ।
१९. आप्त, आगम और तत्वादिकों में जो शंकादिक दोषों से रहित निर्मल भ्रद्धान है उसे ही सम्यक्त्व जानो।

संकाइय अट्ट मय परिहरि मूढा तिण्णि ।

जे छह कहिय अणायतण दंसणमल अवगण्णि ॥ २० ॥

सुणि दंसणुं जिय जेण विणु सावयगुणु ण हुं होइ ।

जह सामग्गिविवज्जियहं सिज्जइ कज्जु ण कोइ ॥ २१ ॥

मज्जु मंसु महु परिहरहि करि पंचुवर दूरि ।

आर्यहं अंतरि अट्टं मि तस उप्पज्जइं भूरि ॥ २२ ॥

महु आसायउं थोर्डउ वि णासइ पुण्णु बहुत्तु ।

वइसाणरहं तिडिकेडउ काणणु डहइ महंतु ॥ २३ ॥

अण्णुवइट्टं मण्णियइं महु परिहरियउ होइ ।

जं कीरइ तं कारियइ एहु अहाणउ लोइ ॥ २४ ॥

सेव्वइं कुसुमंइं छंडियइं कैरि पंचुवरचाउ ।

हुंति विमुकइं मंडणइं जइ मुक्कउ अणुराउ ॥ २५ ॥

१ अ. क. प. परिहर. २ ज. दंसणि; अ. क. द. दंसण.
 ३ अ. क. वि. ४ द. आयहिं. ५ अ. क. अट्टमि हि. ६ अ. ज.
 द. उप्पज्जहिं. ७ अ. क. आसादइ. ८ अ. क. थोवड वि. ९ ज.
 द. तिडिकउ वि. १० अ. द. अणु उवइट्टं; प. अणउवइट्टं.
 ११ अ. क. ज. द. सगइं. १२ द. कुसुमिय. १३ अ. क. ज. द.
 पंचुवरपरिचाउ.

२०. शंकादिक आठ (दोष), आठ मद और तीन मूढता दोष, मद, मूढता का परिहार करो। जो छह अनाद्यतन कहे गये हैं और अनाद्यतन उन्हें (सम्यग्) दर्शन के मैल जानो।

२१. हे जीव, (सम्यग्) दर्शन को सुनो जिसके बिना सम्यग्दर्शन श्रावक का गुण नहीं होता। जैसे सामग्री से विवर्जित मनुष्य का कोई भी कार्य नहीं सधता।

२२. मद्य, मांस, मधु का परिहार करो, पंच उदुम्बर अष्टमूलगुण दूर करो। इन आठों के अन्दर बहुत त्रस (जीव) उत्पन्न होते हैं।

२३. मधु थोडासा भी खाया हुआ बहुतसे पुण्य का मधु नाश कर देता है। अग्नि का छोटासा तिलिग भी बड़े भारी वन को ढा देता है।

२४. दूसरों को उपदेश देने व स्वयं मानने से मधु का मधुत्याग परिहार होता है। जैसा (स्वयं) करता है वही (दूसरों से) कराता है यह अहाना लोक में है।

२५. सब फूलों को छोडकर पंच उदुम्बर का त्याग कर। उदुम्बर-त्याग यदि अनुराग छूट गया तो अलंकार [आपही] छूट जाते हैं।

अट्टेइं पालइ मूलगुण पियइ जिं गालिउ णीरु ।
 अह चित्तं सुविसुद्धइण सुच्चइ सव्वुं सरीरु ॥ २६ ॥
 जेण अगालिउ जलु पियउ जाणिअइ ण पवाणु ।
 जो णं पियइ अगालियउ सो धीवरहं पहाणु ॥ २७ ॥
 आमिससरिसउ भासियउ सो अंधउ जो खाइ ।
 दोहि धुहुत्तहं उप्परहिं लोणिउ सम्मुच्छाइ ॥ २५ ॥
 संगे मज्जामिसरयहं मइलिज्जइ सम्मत्तु ।
 अजणामिरिसंगे ससिहिं किरणइं काला हुंति ॥ २९ ॥
 अच्छउ भोयणु ताहं घरि सिद्धहं वयणु ण जुत्तु ।
 ताहं समउ जे कारणइं मइलिज्जइ सम्मत्तु ॥ ३० ॥
 तामच्छउ तँडमंडयहं पक्कासणलित्ताहं ।
 हुंतिं ण जुग्गइं सावयहं तहं भोयणु पत्ताहं ॥ ३१ ॥
 चम्मच्छइं पीयइं जलइं तामच्छउ दूरेण ।
 दंसणसुद्धि ण होइ तसु खद्धइ धियतिल्लेण ॥ ३२ ॥
 रुहिरामिसचम्मट्टिसुर पच्चक्खउं बहुजंतु ।
 अंतराय पालउं भविय दंसणसुद्धिणिमित्तुं ॥ ३३ ॥

१ अ. अट्टउ. २ ज. द. जु. ३ क. द. सव्व. ४ अ. ज.
 द. तं. ५ क. मयलिज्जइ. ६ ज. तहं तंडयहं; अ. क. द. तउ
 भंडयहं. ७ अ. क. होंति. ८ ज. द. पच्चक्खउ. ९ ज. द. पालहिं.
 १० क. मइत्तु.

२६. आठों मूलगुणों का पालन करे और माला (छाना) चित्तशुद्धि हुआ जल पिये। चित्त के विशुद्ध होने से सब शरीर शुद्ध हो जाता है।
२७. जिसेने विना छाना पीना पिया उसने प्रमाण नहीं विना छाना पानी जाना। जो विना छाना पीता है वह धीवरों में प्रधान है।
२८. दो मुहूर्त के ऊपर लोनी (मक्खन) में सम्मूर्छन मक्खन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। (इसलिये) वह मांस सदृश कहा गया है। वह अंधा है जो खाय।
२९. मद्यमांसभोजीका मद्यमांसभोजीका संग संग मद्यमांस में रत रहने वालों के संग से सम्यक्त्व मैला हो जाता है। अंजनगिरि के संग से चन्द्र की किरणें भी काली हो जाती हैं।
३०. उनके घर में भोजन करना तो रहा शिष्ट लोगों का परिहार को उनसे बात भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनके संग से सम्यक्त्व मैला हो जाता है।
३१. पक्क भोजन करने वाले तप से मंडित (मुनि) तो दूर रहे उमका भोजन पात्र श्रावकों के भी योग्य
३२. जो चर्माच्छादित जल पीता है उसकी तो दूरकी चर्माच्छादित वात है, दर्शन शुद्धि तो उसके भी नहीं होती जो जल, घृत, तैल (वैसे) घी-तेल सहित खाता है।
३३. अंतराय योग्य रुधिर, मांस, चर्म, अस्थि और सुरा ये प्रत्यक्ष में ही वस्तुएं बहुत जंतुपूर्ण हैं। हे भव्य दर्शनशुद्धि के निमित्त इनका अन्तराय पालो।

मूल-उणाली-भिसं-ल्हसुण-तुंवड-करड-कलिणु ।
 स्वरण फुल्लत्थाणयहि मक्खणिं दंसणंभंगु ॥ ३४ ॥
 अण्णु जि मुललिउ फुल्लियउ सायहुं चलियउ जं जि ।
 दोदिणंवासियउ दहिमहिउ ण हु भुंजिज्जइ तंजि ॥ ३५ ॥
 वेदलमीसिउ दहिमहिउ जुत्तु ण सावय होइ ।
 खद्धइं दंसणभंगु पर सम्मत्तु वि मइलेइ ॥ ३६ ॥
 तंबोलोसहु जलु मुइवि जे अत्थमियइंस्वरि ।
 भोग्गासणुं फलु अहिलसिउं ते क्किउ दंसणु दूरि ॥ ३७ ॥
 जूएं धणहु ण हाणि पर वयहं मि होइ विणासु ।
 लग्गउ कडु ण डहइ पर इयरहं डहइ हुयासु ॥ ३८ ॥
 जइ देखेवउ छाडियउं ता जिय छाडिउ जूउं
 अह अग्गिहिं उल्हावियइं अवसं ण उडइ धूउ ॥ ३९ ॥
 दय जि मूल धम्मंधिवहु सो उप्पाडिउ जेण ।
 दलफलकुसुमहं कवण कह आमिसु भक्खिउ तेण ॥ ४० ॥

१ अ. क. विस. २ क. भक्खु ण ३ ज. दंसणि.
 ४ अ. ज. द. अणु. ५ ज. द. सुललिउ. ६ अ. क. सायहं. ७ द.
 विणि. ८ ज. द. जो. ९ अ. भुंगासणु; क. द. पुग्गासणफल.
 १० ज. द. अहिलसइ. ११ अ. जूवें. १२ अ. क. जइ छाडिउ वड
 देखिवउ १३ क. ता छाडिउ तुहुं जूउ. १४ अ. क. अवसि.

३४. मूली, उनाली (!) , बिस (कमलतन्तु), लहसुन, मूली आदि अमक्ष्य तुंबा, करड, कर्लिंग, सूरण व फूलस्थानों के भक्षण से दर्शन भङ्ग होता है ।
३५. अन्य भी जिसमें जड़ें निकल आई हों, व फूल आगये हों व जो स्वाद से चलित होगया हो, व दो दिन का वासा दही मही भी नहीं खाना चाहिये ।
३६. द्विदल द्विदल द्विदलमिश्रित दही मही श्रावकों के योग्य नहीं होता । इसके खाने से दर्शन का भङ्ग और सम्यक्त्व मैला होता है ।
३७. ताम्बूल, औषध और जल को छोडकर, सूर्यास्त के रात्रिभोजन पश्चात् जिसने भोजन या फलाहार की अभिलाषा की उसने दर्शन को दूर कर दिया ।
३८. जुंवा से धन ही की हानि नहीं होती पर व्रतों का धूत भी विनाश होता है । अग्नि केवल जिस काठ में लगे उसे ही नहीं जलाती किन्तु दूसरों को भी ढा देती है ।
३९. यदि देखना तक छोड दिया तो, हे जीव, धूत दूतत्याग सचमुच छूटा । अग्नि के जलसे शमन कर देने पर अवश्य धुंआ नहीं उठता ।
४०. दया ही धर्मवृक्ष का मूल है । इसे जिसने उपाट दया डाला उसने दल, फल, कुसुम की कौन कथा मांस भक्षण कर लिया ।

पुट्टिमंसु जइ छड्डियउ ता जिय छड्डियउ मंसु ।

जहँ अप्पत्थे वारियइं वारिउ वाहिपवेसु ॥ ४१ ॥

मुहु वि लिहिवि सुत्तउं सुणहु एहुँ जि मज्जहु दोसु ।

मत्तउ वहिणिहिँ अहिलसइ तें तहुँ णरयपवेसु ॥ ४२ ॥

मज्जु मुक्कुँ मुक्कहं मयहं अण्णु जि वेसा मुक्क ।

जह वाहिहिँ विणिवारियहिँ वेयण होइ ण इक्क ॥ ४३ ॥

वेसहिँ लग्गइ धाणियधणु तुट्टइं बंधउ मित्तुं ।

मुच्चइ णरु सच्चहं गुणहं वेसाधरिँ पइसंतु ॥ ४४ ॥

कामकहइँ परिचत्तियइं जिय दारिय परिचत्त ।

अह कंदइं उप्पाडियइं वेल्लिहिँ पत्त सपत्त ॥ ४५ ॥

पारद्विउं परणिग्घणउ हणइँ णिरारिउ जेण ।

भयभग्गा जियगहियतण णरयहुँ गच्छइ तेण ॥ ४६ ॥

मुक्क सुणहमंजरपमुह जइ मुक्की पारद्वि ।

बीयइं रुद्धइं पाणियइं रुद्धी अंकुरलाद्वि ॥ ४७ ॥

१ क. ज. द. जहिँ. २ अ. क. द. मुत्तइं. ३ अ. ण हु
ण. ४ द. वाहिणहिँ; अ. ज. वहिणि जि ५ अ. क. तह. ६ अ.
क. मज्ज मुक्क. ७ क. द. इँ. ८ द. तुट्टउ. ९ अ. क. बंधवमित्त.
१० अ. क. द. णिहिँ. ११ अ. क. कामकहाँ १२ अ. पारिद्विउ.
१३ अ. दणित्त. १४ अ. क. णिरयह.

४१. मांसत्याग
पृष्ठमांस यदि छोड़ दिया तो, हे जीव, मांस छोड़ा। जैसे अपथ्य के निवारण से व्याधिप्रवेश का निवारण हो जाता है।
४२. मद्यदोष
बार बार लिख लिख कर इस सूत्र को सुनो। मद्य का यह दोष है कि मत्त (पुरुष) अपनी बहिन की भी अभिलाषा करने लगता है इससे उसका नरक में प्रवेश होता है।
४३. मद्यत्याग
मद के छोड़ देने से मद्य भी छूट जाता है और वेद्या भी छूट जाती है, जिस प्रकार कि व्याधि के निवारण हो जाने से एक भी वेदना नहीं रहती।
४४. वेद्यादोष
धनिकों का धन वेद्या में लगता है। बंधु मित्र सब छूट जाते हैं। वेद्या के घर प्रवेश करने वाला नर सब गुणों से मुक्त हो जाता है।
४५. वेद्यात्याग
कामकथा के परित्याग से, हे जीव, दारिका (वेद्या) का भी परित्याग हो जाता है। कंद के उपाट देने पर वेला के पत्र समाप्त हो जाते हैं (स्वयं सूख जाते हैं)।
४६. आखेटदोष
शिकारी बड़ा निर्दयी है जो भय से भागे हुए, जीभ में टुग दबाये हुए (मृगों) का वध करता है। इससे वह नरक को जाता है।
४७. आखेटत्याग
यदि शिकार खेलना छोड़ दिया तो कुत्ता बिल्ली आदि भी छूट गये। बीज में पानी की रोक कर देने से अंकुरलाधि का अवरोध हो जाता है।

चोरी चोर हणेइ पर बहुयकिलसहं खाणि ।

देइ अणत्थु कुडंबहं मि गोत्तहुं जसधणहाणि ॥ ४८ ॥

मुक्कहं कूडतुलाइयहं चोरी मुक्की होइ ।

अह व वणिज्जं छंडियइं^३ दाणु ण मग्गइ कोइ ॥ ४९ ॥

परतिय बहुबंधण ण परं अण्णु वि णरयणिसेणि ।

विसकंदलि घारइ ण पर करइ वि पाणहं हाणि ॥ ५० ॥

जइ अहिलासु णिवारियउ ता वारिउ परयारु ।

अह णाइक्के जित्तइणं जित्तउ सयलु खंधारु ॥ ५१ ॥

वसणइं तावइं छंडि जिय परिहरिं^९ वसणासत्तिं ।

इं संसग्गे हरिय पेक्खह तरु डज्झंतिं ॥ ५२ ॥

मूलगुणा इय एत्तडइ^{१०} ाह्यवइ थक्कइ जासु ।

धम्मु अहिंसा देउ जिणु रिसि गुरु दंसणुं तासु ॥ ५३ ॥

१ अ. द. कुडंबह. २ अ. क. गोत्तिहु. ३ क. छेडियइं.
 ४ ' बहुबंधणणयर ' भी पढा जा सकता है । ५ क. णिरयं.
 ६ ज. णि. ७ अ. क. इक्के रायहं जित्तियहं. ८ ज. द. ताव छंड
 जिय. ९ अ. परिहर. १० अ. क. प. वसणासत्ति. ११ अ. क.
 सुक्कइं. १२ क. द. डज्झंति. १३ अ. द. इत्तडउ; क. उत्तडउ.
 १४ क. थक्कउ. १५ द. दंसण.

४८. चोरी चोर का तो हनन करती ही है पर और भी चोरी-दोष बहुत से क्लेशों की खानि है। वह कुटुम्ब का भी अनर्थ करती है और गोत्र के यश और धन का नाश कर देती है।
४९. कूट तुलादि के छोड़ देने पर चोरी छूटती है। चोरी-त्याग वाणिज्य के छोड़ देने पर कोई दान नहीं मांगता।
५०. परस्त्री बहुत बन्धन ही नहीं परंतु वह नरक-परस्त्री-दोष नसेनी भी है। विष-कंदली मूर्च्छित ही नहीं करती, किन्तु प्राणों की भी हानि कर डालती है।
५१. यदि अभिलाष का निवारण होगया तो परदार का त्याग हुआ। नायक के जीत लेने पर समस्त स्कंधावार (सेना) पर विजय होजाती है।
५२. व्यसन तब छूटेंगे, हे जीव, जब व्यसनों में आसक्त व्यसनी मनुष्यों (मनुष्यों) का परिहार करे। सुखों के संसर्ग से, का परिहार देखो, हरे वृक्ष भी ढा जाते हैं।
५३. इस प्रकार ये मूल गुण जिसके हृदय में वास सम्यग्दर्शन की करते हैं, व जिसका धर्म अहिंसा, देव जिन और पूर्णता गुरु ऋषि है उसीका [सम्यग्] दर्शन है।

जसु वंसणु तसे माणुसहे दोस पणसई जंति ।
 जौहे पणसि गिवसइ गरुडु तहि किं विसहर ठंति ॥५४॥
 दंसणरहियं जि तउ करहिं ताहं वि णिप्फल णिट्ठ ।
 विणु बीर्यहं कणभरणमिय भणु किं खेत्ती दिट्ठ ॥ ५५ ॥
 दंसणसुद्धिए सुद्धयहं होइ सयल वयणिट्ठ ।
 अह कप्पडि अणतोरियहं किम लगइ मंजिट्ठ ॥ ५६ ॥
 दंसणभूमिहिं बाहिरउं जिय वयरुक्ख ण हुंति ।
 विणु वयरुक्खहं सुंक्खरुल आयासहु ण पडंति ॥ ५७ ॥
 छुंइ दंसणुं गहायरउ हियडइं णिच्चलु जाउ ।
 वयपासाउ समीठवहुं चंचलु धणु जिय आउ ॥ ५८ ॥
 अणुवयमुणसिक्खान्महं ताइं मिं बासह हुंति ।
 भुंजाइवि पारसुरसुहइं जिउं णिन्नाणहु णिति ॥ ५९ ॥

१ अ. क. घड°. २ ज. माणु सुहु; द. माणसुहु ३ ज.
 पणासिवि; द. पणसवि. ४ अ. क. जिहिं. ५ अ. क. जंति.
 ६ क. रहिउ. ७ क. करइ. ८ ज. बीजइं. ९ ज. द. बाहिरा.
 १० अ. मोक्खफल. ११ अ. क. सुणु. १२ ज. दंसण. १३ हियडउ
 १४ द. भासइ उक्खमि ठणहु; क. पासहु व समीठणहु; ज.
 पासउ मि समीठवहु. १५ ज. जि. १६ क. जिच.

५४. जिसके दर्शन है उस मनुष्य के दोष बरतों को दर्शन से दोष-प्राप्त होजाते हैं। जिस प्रदेश में गन्ध निवास नाश करता है वहां क्या विषधर ठहर सकते हैं ?

५५. दर्शन से रहित होकर जो तप करते हैं उनकी दर्शन के बिना निष्ठा निष्फल है। बिना बीज के, कहीं, कहीं अन्न तप निष्फल है। के भार से झुकी हुई खेती देखी गई है ?

५६. जो दर्शनशुद्धि से शुद्ध हुए हैं उनके सब व्रतों की दर्शनशुद्धि से निष्ठा होती है। बिना तुरटी (फिटकरी) लगाये व्रतनिष्ठ। कपड़े पर मंजीरा का रंग कैसे बढ सकता है ?

५७. दर्शनभूमि से बाहिर, हे जीव, व्रतरूपी वृक्ष नहीं दर्शन के बिना होते, और बिना व्रतवृक्षों के सुखफल आकाश से सुख नहीं। तो पढ़ेंगे नहीं।

५८. यदि दर्शन रूपी फलक हृदय में निश्चल होगया, दर्शन और तो उसपर व्रत रूपी पाँसों को ढालो। फिर, हे धनागम, जीव, चंचल धन को आने दो।

५९. अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत सब मिलकर बारह व्रतों से बारह होते हैं। वे मनुष्य और देवलोक के सुखों मोक्ष-प्राप्ति का उपभोग कसकर जीव को निर्वाण तक पहुंचा देते हैं।

मणवयकार्थहिं दय करंहि जेम ण दुक्कइ पाउ ।
 उरि सण्णाहें बद्धइण अवैसि ण लग्गइ घाउ ॥ ६० ॥
 अलिय कसायहिं मा चवहि अलिणं गउ वसुराउ ।
 जहिं णिविट्ठु साखंडुं तहं डालहं होइ पमाउं ॥ ६१ ॥
 णासइ घणु तसु घरतणउ जो परदव्वु हरेइ ।
 गेहिं कवेडउ पेप्पियउ काइं ण काइं करेइ ॥ ६२ ॥
 माणइं इंछिय परमहिल रामणुं सीय विणइं ॥
 दिट्ठिहिं मारइ दिट्ठिविसु ता को जीवइ दडु ॥ ६३ ॥
 पसुधणधण्णइं खेत्तियइं कैरि परिमाणपवित्ति ।
 वलियइं बहुयइं बंधणइं दुक्करुं तोडहुं जंति ॥ ६४ ॥
 भोगहं करहि पमाणु जिय इंदिय म कैरि सदप्प ।
 हुंति ण भल्ला पोसिया दुद्धे काला सप्पे ॥ ६५ ॥

१ अ. क. कायहं. २ द. कर. ३ अ. ज. द. अवस.
 ४ अ. क. णिविट्ठु साखंड, प. भाखंड. ५ क. द. तहिं. ६ क. द.
 डालहु. ७ अ. पपाउ; क. पसाउ. ८ ज. कवेडउ. ९ ज. रावणु
 द. रामणसीय. १० अ. विणट्ठि. ११ क. ज. करहि. १२ प.
 दुक्कर तोडइं; अ. क. तोडइं. १३ ज. करिसि दप्पु. १४ ज.
 सप्पु.

६०. मन, वचन और काय से दया कर जिससे पाप न दया आवे । उर में कवच बांधने से अवश्य घाब नहीं लगता ।
६१. कषाय से असत्य मत बोल । असत्य से वसुराजा असत्य गया । जिस शाखा पर शाखारंड (द्रोही) बैठा उस शाखा का सत्यानाश हुआ ।
६२. जो परद्रव्य का हरण करता है उसके घर का धन चोरी भी नष्ट हो जाता है । गृह में कपट का प्रवेश कराया । वह क्या क्या नहीं करेगा ।
६३. मान के कारण पराई स्त्री, सीता, की इच्छा करने परस्त्री से रावण का नाश हुआ । दृष्टिविष (सर्प) दृष्टिमात्र से मार डालता है, इसे जाने पर तो कौन जी सकता है ।
६४. पशु, धन, धान्य, खेती इनमें परिमाण से प्रवृत्ति परिग्रह कर । बन्धनों में बहुत बल (आटे) होने से उनका तोड़ना दुष्कर हो जाता है ।
६५. हे जीव, भोगों का भी प्रमाण रख । इन्द्रियों को भोगों का बहुत अभिमानी मत बना । काले सांपों का दुग्ध से पोषण करना अच्छा नहीं होता ।

हं परमाणु करि जियवहु जत्थेइ जेण ।
 मोकलियेइं आसागयइं संजग्गु पल्लिउ तेण ॥ ६६ ॥
 लोहं लक्ख विसु सणु मयणु दुडभरणु पसुभारु ।
 छंडि अणत्थहं पिडि पिडिउ किमि तरिहेहि संसारु ॥६७॥
 संझा तिहिं मि समाइयंइं उप्पज्जइं बहुपुण्णु ।
 कालि वरिद्धं भंति कउ जंइ उप्पज्जइ घण्णु ॥ ६८ ॥
 चिरकियेकम्महं खंउ करइ पच्चदिणेहि उववासु ।
 अहवा सोसइ सरसलिलु भंति ण गिंभि दिणेसु ॥ ६९ ॥
 पत्तइं दिज्जइ दाणु जिय कौलि विहाणइं तं पि ।
 अह विहिविरहिउ वावियउ बीउ वि फलइ ण किं पि ॥७०॥
 सण्णासेण मरंतयहं लब्भइ इच्छियलद्धि ।
 इत्थुं ण कायउ भंति करि जेहिं साहसु तहिं सिद्धि ॥७१॥

१ ज. जाइय. २ अ. द. मोकलियहिं आसागयहिं.
 ३ अ. लोह लाख. ४ अ. क. तरिहसि; ज. तरिसहि. ५ ज.
 समाइयहं. ६ अ. चरिद्धुउ; क. परिद्धुउ. ७ अ. क. द. जहिं.
 ८ ज उप्पज्जइ बहु घम्मु; अ. घम्मु. ९ ज. कय. १० अ. क.
 खय; ज. खइ. ११ अ. क. दिणह; ज. दिणहं. १२ अ. क. ज.
 कालविहाणे. १३ क. द. इत्थि. १४ क. जइ साहस तइ सिद्धि.

६६. दिशा-विदिशाओं (में जाने) का भी प्रमाण कर ।
दिग्गत इससे जीबबध होता है । जिसने आशाओं में जाना छोड़ दिया उसने संयम का पालन किया ।
६७. लोहा, लाख, विष, सन, मैल, दुष्टभरण और
अनर्थत्याग पशुमार इनको छोड़ । अनर्थों के पिंड में पड़कर किस प्रकार संसार को तरेखा ?
६८. तीनों संभ्याओं में सामागिक करने से बहुत पुण्य
सामागिक उत्पन्न होता है । यदि समय पर वर्षा होने से धान्य उत्पन्न हो तो इसमें भ्रान्ति क्या है ?
६९. पर्व के दिन का उपवास चिरकाल के किये हुए
पर्वोपवास कर्मों का क्षय करता है । ग्रीष्म में सूर्य सरोवर के जल को सुखा देता है, इसमें भ्रान्ति नहीं ।
७०. हे जीव, पात्रों को दान देना चाहिये, वह भी समय
पात्रदान पर और विधि सहित । विना विधि के बोया हुआ बीज कुछ भी फल नहीं देता ।
७१. सन्यास से मरण करने वालों को यथेच्छ लाभ
सन्यासमरण होता है, इसमें कुछ भी भ्रान्ति न कर । जहाँ साहस तहाँ सिद्धि ।

एं बारह वय जो करइ सो गच्छइ सुरलोउं ।
 सहसणयणु धरणिंदु जहिं वण्णइ ताहं विभोउं ॥ ७२ ॥
 आउसंति सग्गहं चइवि उत्तमवंसहं हुंति ।
 भुंजिवि हरिबलचक्सुहुं पुणु तवयरणुं करंति ॥ ७३ ॥
 उक्किइइं विहिं तिहिं भवहिं भुंजिवि सुरणरसोक्खुं ।
 जंति जहण्णइं धुणियरर्यं भंवि सत्तइमि मोक्खु ॥ ७४ ॥
 संगचाउ जे करहिं जिय ताहं ण वय भजंति ।
 अंह किं लग्गहिं चोरडा जे दूरे णासंति ॥ ७५ ॥
 एहु धम्मु जो आयरइं बंभणु सुहु वि कोइ ।
 सो सावउ किं सावयहं अण्णु किं सिरिं मणि होइ ॥ ७६ ॥
 मज्जु मंसु महु परिहरइं संपइ सावउं सोइ ।
 णीरुक्खइ एरंड वणि किं ण भवाई होइ ॥ ७७ ॥

१ क. ज. एयारह. २ ज. सुरलोइ. ३ ज. विभोइ.
 ४ अ. क. सग्गह. ५ क. सुहु. ६ द. तवयरणि. ७ क. द.
 सुक्खु. ८ द. धणियरया. ९ अ. क. भवसत्तइइं. १० अ. क. द.
 अहव किं लग्गहिं; क. लग्गह. ११ क. आयरहि. १२ क. द.
 सिरिमणि. १३ क. द. परिहरइ; ज. परिहरहि. १४ क.
 सावय.

७२. वे बारह व्रत जो करता है वह सुरलोक को जाता है जहां सहस्रनयन [इन्द्र] और धरणेन्द्र भी उसके भोगों का वर्णन करते हैं ।
७३. आयु के अन्त में स्वर्ग को छोड़कर उत्तमवंश में दूसरे जन्म के सुख उत्पन्न होते हैं, और हरि, बलभद्र व चक्रवर्ती के सुख भोगकर पुनः तप करते हैं ।
७४. उत्कृष्ट (भव्य) दो तीन भव में सुरनर-सुख भोग कुछ भवों के पश्चात् मोक्ष करके मोक्ष को जाते हैं ।
७५. जो जीव संगत्याग कर देते हैं उनके व्रत भङ्ग संगत्याग नहीं होते । क्या उनको चोर लग सकते हैं जो दूर से भाग जाते हैं ?
७६. इस धर्म का जो आचरण करता है, ब्राह्मण चाहे शूद्र, कोई भी हो, वही भ्रावक है । और क्या भ्रावक के सिर पर कोई मणि रहता है ?
७७. जो मद्य, मांस और मधु का त्याग करे, आजकल वही भ्रावक है । क्या बड़े वृक्षों में पण्डित परंपरे-वन में छांह नहीं होती ?

सावयवम्बोहा सञ्जरहं मि दाणु वहाणु सुवुनु ।
 संदिअइ विवण्ण सहुं बुज्जिअवि पत्तु अपत्तु ॥ ७८ ॥
 उत्तमपत्तु सुणिदु जगि मज्झिमु सावउ सिहु ।
 अविण्णसम्भाइडि अहु वभणित पत्तु क्कभिदु ॥ ७९ ॥
 पत्तहं जिणउवणसियहं तीहं मि देइं जु दाणु ।
 कल्लाणइं पंचइं लहिवि भुंजइ सोक्खणिहाणु ॥ ८० ॥
 दंसणरहियकुपत्ति जइ दिण्णइ ताह कुभोउ ।
 स्सारवडें अह गिवडियउ पीरु वि खारउ होइ ॥ ८१ ॥
 हयगयसुणहहं दारियहं मिच्छादिडिहिं भोय ।
 खे कुपत्तदार्याविवहं फल जाणहु वहुभेय ॥ ८२ ॥
 तं अपत्तु आगंमि भणित णउ वयदंसर्ण जासु ।
 णिप्फलु दिण्णउ होइ तसु जैह ऊत्तरि कउ सँसु ॥ ८३ ॥
 हारित तँ घणु अप्पणउ दिण्णु अपत्तहं जेण ।
 उप्पहिं चोरेंहं अप्पियउ खोजु ण पत्तउ केण ॥ ८४ ॥

१ द. उत्तिमं; ज. उत्तिमु. २ ज. तहें मि. ३ क. देउ.
 ४ अ. ज. कुपत्त. ५ अ. क. घडे. ६ क. द. तहभेय. ७ क.
 जान्णमं. ८ अ. क. ज. धंसणु. ९ अ. क. द. जहि. १० द.
 ससु; ५. सस्सु. ११ द. चोरेहि.

७८. भ्रातृवर्गों के साथ घरों में दान प्रधान कहा गया है। इसे पत्र-अपत्र का विवेक करके, विनय सहित देना चाहिये।

७९. जगत् में उत्तम पात्र मुनीन्द्र और मध्यम भ्रातृवर्ग कहा गया है। अविरत सम्यग्दृष्टिं वृद्ध कर्मिणु पात्र कथ्यते है।

८०. जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट तीनों प्रकार के पात्रों को जो दान देता है वह पंच कल्याण का लाभ करके सुखनिधान का उपभोग करता है।

८१. दर्शन रहित कुपात्र को यदि दान दिया जाता है तो उससे कुभोग प्राप्त होता है। खारे घड़े में डण्डन हुआ जल भी खारा हो जाता है।

८२. घोड़े, हाथी, कुसा व घेइयाओं के भोग मिथ्या दृष्टियों के भोग हैं। इन्हे कुपात्रदान रुकी वृक्ष के नाना प्रकार के फल जानो।

८३. आगम में उसे अपात्र कहा है जिसके व्रत व दर्शन नहीं है। उसे दिया हुआ दान निष्फल होता है, जैसे ऊसर जमीन की खेती।

८४. जिसने अपात्र को दान दिया उसने अज्ञान धन खोया। उपलब्ध कर लोगों को दिये हुए धन का लोभ किस ने पया है ?

इकु वि तारइ भवजलहि बंहु दायार सुपत्तु ।
 सुपरोहणु एकु वि बहुय दीसइ पारहु णितु ॥ ८५ ॥
 दाणु कुपत्तहं दोसइइ बोळिअइ ण हु भंति ।
 पत्थरु पत्थरणान कहिं दीसइ उत्तारंति ॥ ८६ ॥
 जइ गिहत्थु दाणेण विणु जगि पमणिअइ कोइ ।
 ता गिहत्थु पंखि वि हवइ जे घरु ताह वि होइ ॥ ८७ ॥
 धम्म करुंउं जइ होइ धणु इहु दुव्वयणु म बोळि ।
 हकारउ जमभइतणउ आवइ अज्जु कि कळि ॥ ८८ ॥
 काइं बहुत्तइं संपयंइं जइं किविणहं धरि होइ ।
 उँवहिणीरु खारें भरिउ पाणिउ पियंइ ण कोइ ॥ ८९ ॥
 पत्तहं दिण्णउ थोवडैउ रे जियं होइ बहुत्तु ।
 वडह बीउ धरणिहिं पडिउ वित्थरु लेइ महंतु ॥ ९० ॥
 धम्मसरुंवें परिणवह चाउ वि पत्तहं दिण्णु ।
 साइयजलु सिप्पिहिं गयउ मुत्तिउ होइ रवण्णु ॥ ९१ ॥

१ द. तारइ तीर. २ क. में यह दोहा नहीं है. ३ अ. ज.
 द. हवाहिं. ४ अ. क. करहुं. ५ अ. क. संपवइं. ६ ज. द. जा.
 ७ ज. द. सायरणीरु खारें भरिय. ८ अ. पिवइ. ९ अ. द.
 थोअडउ. १० ज. द. वियरिय. ११ अ. क. सरुवइं.

८५. एक ही सुपात्र अनेक दातारों को भवसमुद्र से तार देता है। अच्छी एक ही नौका बहुतों को पार लगाती देखी जाती है।
८६. कृपात्र का दान दोष पूर्ण कहा गया है इसमें भ्रान्ति नहीं। पत्थर की नाव पत्थर को पार उतारती कहीं देखी गई है ?
८७. यदि दान के बिना भी जगत् में कोई गृहस्थ कहलावे तो पक्षी भी गृहस्थ होगया क्योंकि घर तो उसके भी होता है।
८८. 'यदि धन होजाय तो धर्म करूं' ऐसे दुर्बचन मत मौत का अनिश्चय कि कल।
८९. बहुत सम्पत्ति से भी क्या यदि वह कृपण के घर हुई। समुद्र का जल खार से भरा है। उसका पानी तक कोई नहीं पीता।
९०. हे जीव, पात्र को दिया हुआ थोड़ा भी बहुत हाता पात्रदान थोडा है। घट का बीज भूमि में पड़कर भारी विस्तार भी बहुत है ले लेता है।
९१. पात्रको दिया हुआ दान धर्म स्वरूप परिणामित होता है। स्वातिजल सीप में पड़कर रमणीय मोती बन जाता है।

जं दिज्जइ तं पवियइ एठ व वयणु विरुद्धु ।
 माइ पईण्णइ खडभुत्तइ किं ण वयच्छइ दुदु ॥ ९२ ॥
 जो घरि हुंतइं धणकणइं मुणिहि कुभोयणु देइ ।
 जम्मि जम्मि दालिदडउ पुट्टि ण तहु छंडेइ ॥ ९३ ॥
 कहिं भोयण सहुं मिट्टेई दिण्णु कुभोयणु जेण ।
 हुंतइं बीयइं घरि पडर वविय बबूलइं तेण ॥ ९४ ॥
 जं जिय दिज्जइ इत्थुमवि तं लब्भइ परलोइ ।
 मूलं सिंचइ तरुवरहं फलु डालेहं पुणु होइ ॥ ९५ ॥
 पचइं दाणइं दिण्णइण मिच्छादिट्ठि विं जति ।
 उत्तमाइं भोयार्वणिहिं इच्छिउं भोउ लहंकि ॥ ९६ ॥
 कम्मं ण खेत्तिय सेव जहिं णउ वाणिज्जयासु ।
 घरि घरि दस कप्पयर जहिं ते पूरेहिं अहिलासु ॥ ९७ ॥
 किं किं देइ ण धम्मतरु दाणसलिलसिंचंतु ।
 जइ मिच्छत्तइयासणहु रक्खिज्जइ डज्जंतु ॥ ९८ ॥

१ अ. क. एहउ वयणु विरुद्धु. २ ज. पयणइं. ३ ज. द.
 सिहु. ४ अ. क. भेट्टेई. ५ क. डम्लहु. ६ क. दिण्णइं वणइण.
 ७ ज. णिं. ८ अ. क. भोयवाणि वि. ९ क. इच्छिय भोय.
 १० अ. क. कम्म. ११ क. पूरेणं ज. पूरेहिं.

१२. 'जो दिया जाता है वही प्राप्त होता है' यह सूचन अप्रयुक्त नहीं है। गवय को घास-भूख खिलाया जाता है तो क्या वह दूध नहीं देती ?
१३. जो घर में धनधान्य होते हुए भी मुनि को कुमोजन-दान का फल कुमोजन देता है, जन्म जन्म-दारिद्र्य उसका पीछा नहीं छोड़ता ।
१४. उसकी भोजन से भैंस कहां जिसने कुमोजन दिया। घर में अच्छे बीज होते हुए भी उसने बबूल बोये ।
१५. हे जीव, जो कुछ इस भव में दिया जाता है वही दान से परलोक परलोक में प्राप्त होता है। वृक्ष की मूल सींचने में सुख से ही डाल में फल लगता है ।
१६. पात्रों को दान देने से मिथ्यादृष्टि भी उत्तम पात्रदानसे भोग-भोगभूमि को जाते हैं और इष्टभोग भूमि के सुख पते हैं ।
१७. जहां (भोगभूमि में) न सेवा का काम है और न वाणिज्य का प्रयास है। जहां घर घर दश कल्पवृक्ष हैं जो अभिलाषाओं को पूरी करते हैं ।
१८. दान सलिल से सींचे जाने पर धर्मतरु क्या-क्या दान से धर्मकंदि बड़ी देता, यदि मिथ्यात्वकृपि अग्नि से उसे डलने और शूलान से चलाया जाय ।

धम्मु करंतहं होइ धणु इत्थु ण कायउ भंति ।
 जलु कइंतहं कूवयहं अवसइं सिरउ घंडंति ॥ ९९ ॥
 धम्महु धणु पैरिहोइ थिरु विग्घइं विहडिवि जंति ।
 अह सरवरु अविणैइं रहिउ फुट्टिवि जाइ तडत्ति ॥ १०० ॥
 धम्मं सुहु पावेण दुहु एउं पसिद्धउ लोइ ।
 तस्सा धम्मं समायरहि जें हियइंछिउ होइ ॥ १०१ ॥
 धम्मं जाणँहिं जंति णर पावें जाण व्हंति ।
 धरयर गेहोवरि चढहिं कूवखणयं तलि जंति ॥ १०२ ॥
 धम्मं इक्कु वि बहु भरइ सइं भुक्खियउ अहम्मु ।
 बहु बहुयँहं छाया करइ तालु सहइ सइं धम्मैषु ॥ १०३ ॥
 काइं बहुत्तइं जंपियइं जं अप्पहु पडिक्कलु ।
 काइं मि परहु ण तं करहि एहु जि धम्महु मूलु ॥ १०४ ॥
 सत्थसएणँ वियाणियहं धम्मु ण चढेँ मणे वि ।
 दिणयरसउ जइ उग्गमँइं घूर्यँहु अंधउ तो वि ॥ १०५ ॥

१ अ. क. काइं म भंति; द. काइं मजंति. २ ज. व्हंति;
 द. वडुंति. ३ अ. क. परहोइ. ४ अ. अविणय. ५ अ. क. एहु.
 ६ क. धम्म समायरह जिह हियइंछिय. ७ अ. क. द. जाणइं;
 ८ द. ण. हुंति. ९ क. खणे. १० अ. क. द. बहुयइं. ११ ज. घुम्मु;
 १२ ज. सपहिं. १३ द. चडइ. १४ अ. उग्गमहि. १५ अ. क. घूरुउ.

९९. धर्म करने वालों के धन होता है इसमें भ्रान्ति धर्म से धन प्राप्ति न करना चाहिये। कूप से जल काढने वालों के सिर पर अवश्य घड़ा होता है।

१००. धर्म से धन स्थिर होता है और विघ्न विघट धर्म से धन जाते हैं। पार से रहित सरोवर तड़ से फूट का स्थिरता जाता है।

१०१. ' धर्म से सुख, पाप से दुख ' यह लोक में प्रसिद्ध धर्म से सुख है। इसलिये धर्म कर जिससे मनोवाञ्छित प्राप्त हो।

१०२. धर्म से नर यानों द्वारा जाते हैं और पाप से यानों धर्म का सुफल, का वहन करते हैं। घर बनाने वाले घरके ऊपर पाप का दुष्फल चढते हैं और कुआ खोदने वाले नीचे को जाते हैं।

१०३. धर्म से एक ही बहुतों का भरण पोषण करता है धर्म की शक्ति और अधर्मी स्वयं भूखा रहता है। वट बहुतों पर छाया करता है और ताल स्वयं घाम सहता है।

१०४. बहुत कहने से क्या, जो अपने प्रतिकूल हो उसे धर्म का मूल कभी दूसरों के प्रति भी मत करो। यही धर्म का मूल है।

१०५. सौ शाखों को जान लेने से भी विपरीत ज्ञान वाले विपरीत ज्ञानी के मन पर धर्म नहीं चढता। यदि सौ सूर्य भी ऊग आवें तो भी घुग्घू अंधा ही रहेगा।

षोड्ढं लग्गिणिवि पावमइ करइ परत्तहं दुक्खु ।
 देउलं लग्गियं खिल्लियेइं किण्ण पलोड्ढेइं युक्खु ॥ १०६ ॥
 छुडु सुविसुद्धिये होइ जिय तणुमणवयसामग्गि ।
 धम्मु विट्ठप्पइ ईत्थियेइं धण्हं विलग्गउ अग्गि ॥ १०७ ॥
 मुणि वयणइं झायहि मणइं जिणु भुवणत्तयवंधु ।
 कायेंइं करि उववासु जिय जे खुड्ढइ भवसिंधु ॥ १०८ ॥
 होइ वणिज्जु ण पोड्ढेलिहि उववासहि णउ धम्मु ।
 एहु अंहाणउ सो चवइ जसु कउ भारिउ कम्मु ॥ १०९ ॥
 पोड्ढलियइं मण्णिमोत्तियइं धणु कित्थियेहिं ण माइ ।
 बेरिहिं भरिउ बलइडा तं णाही जं खाइ ॥ ११० ॥
 उववासहु इक्कहु फलइं संबोहियपरिवारु ।
 णावदत्तु दिवि देउ हुउ पुणरवि णात्थकुमारु ॥ १११ ॥
 तं कजे जिय पेइं भणिउ करि उववासब्भासुं ।
 जाम ण देहकुडिल्लियइं दुक्कइ मरणहुयासु ॥ ११२ ॥

१ अ. देउलि. २ ज. लग्गिणिवि. ३ ज. कीलियहिं. ४ प.
 पड्ढइ. ५ अ. क. ज सुविसुद्धइ. ६ द. वयणे समग्गि. ७ अ.
 क. तित्थियइं. ८ ज. द. वयणि. ९ क झाइय मणइ. १० ज.
 कायइं. ११ ज पोड्ढिलिहिं. १२ ज. अयाणउ. १३ अ. कित्थियहिं
 १४ अ. क. बोणिय. १५ ज. पइं. १६ ज. उववासु सपासु.

१०६. पेट के लिये भी पापमति दूसरों को बुरा बहंसास
पेट के लिये है। देवल में लगी हुई खीलियों को मूर्ख क्यों
पाप नहीं पलीटता ?

१०७. यदि, हे जीव, तन, मन और वचन की सामग्री
मन-वचन-विशुद्ध होय तो इतने से ही धर्म बढ़ता है। धन
काय की शुद्धि में आग लगने दे।

१०८. त्रिभुवन-बन्धु जिन भगवान् का वचनों से कीर्तन
ध्यान, कीर्तन कर, मन से ध्यान कर, और काय से उपवास
और उपवास कर, जिससे, हे जीव, भवसिंधु खुटे।

१०९. वाणिज्य पोटली से नहीं होता। उपवास से धर्म
उपवास की नहीं होता। यह अहाना वह कहता है जिसने भारी
वाणिज्यसे उपमा (दुष्) कर्म किया है।

११०. मणि और मोतियों की पोटली में धन किमना
है इसका मान नहीं रहता। बैल भरे बरों का तो
कोई खाने वाला भी नहीं है।

१११. एक ही उपवास के फल से परिवार का सम्बोधन
उपवास-फलको करके नागदत्त स्वर्ग में देव हुआ और फिर
उदाहरण नागकुमार।

११२. इसीलिये, हे जीव, तुझसे कहता हूं कि उपवास
उपवास का का अभ्यास कर, जबतक कि देह रुपी कुंड में
अभ्यास मरण की आग नहीं पड़ी।

धम्मु विसुद्धउ तं जि पर जं किज्जइ काएण ।
 अहवा तं धणु उज्जलउ जं आवइ णाएण ॥ ११३ ॥
 णिद्धेणमणुयह कड्डा संजमि उण्णय दिति ।
 अह उत्तमपइ जोडिया जिय दोस वि गुण हुंति ॥ ११४ ॥
 णियमविहूणंह णिड्ढणी जीवह णिप्फल होइ ।
 अणबोल्लियैउ कि पावियइ दम्मकलंतरु लोइ ॥ ११५ ॥
 जो वयभायणु सो जि तणु किं किज्जइ इयरेण ।
 तं सिरु जं जिणमुणि णवइ रेइइं भत्तिभरेण ॥ ११६ ॥
 दाणच्चणविहि जे करहिं ते जि सलक्खण हत्थ ।
 जे जिणतित्थंहं अणुसरहिं पाय वि ते जिं पसत्थ ॥ ११७ ॥
 जे सुणंति धम्मक्खरंइं ते हउं मण्णमि कण्ण ।
 जे जोयहिं जिणवरह मुहु ते पर लोयण धण्ण ॥ ११८ ॥
 अवरु वि जं जहिं उवयरंइं तं उवयोरिहि तित्थु ।
 लइ जिये जीवियलाहडउ देहु म लेहुं णिरत्थु ॥ ११९ ॥

१ अ. क. संजमियउणय. २ अ. °विहूणा; क. विहूणी.
 ३ ज. बोल्लिउ. ४ क. दव्वफलंतरु. ५ ज जि. ६ अ सोइइ.
 ७ अ. ज. °तित्थहिं. ८ अ. क. ण ९ अ. क. °हिं; ज. °हं. १०
 अ. क. °हि. ११ ज. उवयारिहिं. १२ द. जीविय जियलाहडउ.
 १३ प. करहु.

११३. धर्म वही विद्युत् है जो अपनी काय से किया काय से धर्म, जावे, और धन वही उज्वल है जो न्याय से न्याय से धन आवे ।

११४. निर्धन मनुष्य के कष्ट संयम में उन्नति देते हैं ।
निर्धनता उत्तम पद में जोड़े हुए दोष भी गुण हो
और संयम जाते हैं ।

११५. नियम-विहीन मनुष्य की निष्ठा निष्फल होती है ।
नियम और विना बोलाये क्या कोई लोक में दाम का टुकड़ा
निष्ठा भी पाता है ?

११६. जो व्रत-भाजन हो वही तन है, अन्य किस काम
सच्चा तन, का ? वही सिर है जो जिनमुनि को नमस्कार करे
सच्चा मस्तक और भक्ति के भार से सुशोभित हो ।

११७. जो दान और पूजाविधि करें वे ही सुलक्षण हाथ
सच्चे हाथ, हैं । जो जिनतीर्थों का अनुसरण करें वे ही पांव
सच्चे पाव प्रशंसनीय हैं ।

११८. जो धार्मिक शब्दों को सुनते हैं उन्ही को मैं कान
सच्चे कान, मानता हूँ । जो जिनवर का मुख देखें वे ही परम
सच्चे नेत्र लोचन धन्य हैं ।

११९. और भी जो (अंग) जैसा उपकार कर सके
धर्म से देह की उससे वैसा उपकार कराओ । हे जीव, जीवन-
सार्थकता लाभ लेकर देह को निरर्थक मत करो ।

धरु पुरु परियणु धणियधणु धंधवपुत्तसहोइं ।
 जीवें जंतें धम्म पर अणु ण सरिसउ जाइ ॥ १२० ॥
 देहि दाण चउ किं पि करि मण गोवहि णियसत्ति ।
 जं कड्ढियेइं बलत्तयहं तं उच्चरइ ण भंति ॥ १२१ ॥
 जइ जिय सुक्खेइं अहिलसहि छंडहि विसयकसाय ।
 अह विग्घेइं अणिवारियहं फलहिं कि अज्झवसाय ॥ १२२ ॥
 फरसिदिउ मा लालि जिय लालिउ एहु जि सत्तु ।
 करिणिहिं लग्गैउ हत्थियउ णियलंकुसदुहुं पत्तु ॥ १२३ ॥
 जिब्भदिउ जिय संवरहि सरस ण भल्ला भक्ख ।
 गालइं मच्छु चडप्फडिवि मुउं विसहइ थलदुक्ख ॥ १२४ ॥
 धाणिदिय वड वसि करहि रक्खहुं विसयकसाउं ।
 गंधहं लंपहु सिलिमुहु वि हुउ कंजइं विच्छाउ ॥ १२५ ॥
 रूवहु उपपरि र्हेइं म करि णयण णिवारहि जंत ।
 रूवोसत्त पयंगडा पेक्खेहि दीवि पंडत ॥ १२६ ॥

१ द सयाइं. २ अ. ज. वउ. ३ अ. क. मणि. ४ क.
 कडियेइं धरवरतयहं. ५ ज. द सुक्खहिं. ६ क. विग्घे. ७ क.
 लग्गिउ. ८ द. वुह. ९ अ. मुह. १० क रक्खउ. ११ ज. पमाउ.
 १२ द मह. १३ ज. रूवहु लग्गि. १४ क. पेक्खइ.

१२०. घर, पुर, परिजन, धनिकों का धन, पुत्र, बांधव जीव का सब और सहायक ये जाते समय जीव के साथ नहीं साथी केवल धर्म जाते । धर्म ही एक साथ जाता है ।

१२१. कुछ भी कर के चार दान दे । मन को निजशक्ति दान और के अनुसार गोप । जो खींच लिया चलते समय मनोगुप्ति वही उपकारी होगा इसमें भ्रान्ति नहीं ।

१२२. हे जीव यदि तू सुख चाहता है तो विषय-कषाय विषय-कषाय छोड़ दे । जिन्होंने विघ्नों का निवारण नहीं किया उनके क्या अभ्यवसाय फलीभूत होते हैं ? का त्याग

१२३. हे जीव, स्पर्शेन्द्रिय का लालन मत कर । लालन करने से यह शत्रु बन जाता है । करिणी से लम कर हाथी जंजीर और अकुंश के दुख में पड़ा है । स्पर्शेन्द्रिय

१२४. हे जीव, जिह्वेन्द्रिय का संवारण कर । रसपूर्ण भक्षण भला नहीं होता । गल से मछली घल के जिह्वेन्द्रिय दुख सहती है और तड़फड़ा कर मरती है ।

१२५. हे मूढ़, घ्राणेन्द्रिय को वश में कर और विषय-घ्राणेन्द्रिय कषाय से बच । गंध का लोभी शिलीमुख (अमर) कमल में कुहला कर पड़ा है ।

१२६. रूप के ऊपर रति मत कर । उधर जाते हुए नयनों नेत्रेन्द्रिय को भी रोक । रूप में आसक्त परतंग कौ दीपक पर पड़ते हुए देख ।

मणगच्छहं मणमोहणहं जिय भेयहं अहिलासु ।
 गोयरसें हियकण्णडा पत्ता हरिण विणासु ॥ १२७ ॥
 एकेहिं इंदियेमोक्कलउ पावइ दुक्खसयाइं ।
 जसु पुणु पंच वि मोक्कला तसु पुच्छिज्जइ काइं ॥ १२८ ॥
 ढिल्लउ होहिं म इंदियहं पंचहं विण्णि णिवारि ।
 इक्क णिवारहि जीहंडी अण्ण पराईं णारि ॥ १२९ ॥
 खंचहि गुरुवयणंकुसहिं भेल्लि मढिल्लउ तेमं ।
 मुहं मोडइ मणहत्थियउ संजमभरतरु जेमं ॥ १३० ॥
 परिहरि कोहु खमाइ करि मुंचेहि कोहमलेण ।
 ण्हाणे सुज्जइ भंतिकउ छित्तउ चंडालेण ॥ १३१ ॥
 मउयत्तणु जिय मणि धरहि माणु पणासइ जेण ।
 अहवा तिमिरु ण ठांहरइ सग्गु गयणि ठिएण ॥ १३२ ॥
 माया मिल्लही थोडिय वि दूसइ चरिउ विसुद्धु ।
 कंजियविंदुइं वि चुडईं सुद्धु वि गुलियेउं दुद्धु ॥ १३३ ॥

१ ज. 'मोहणहं. २ अ. गीयह. ३ अ. क. एक्क वि. ४ अ.
 इंदिय. ५ अ. क. द. होइ. ६ क. जीयडी; ज. जीहडिय. ७ क.
 तेन ८ ज. प. जह. ९ ज. संजमु भरु. १० अ. क. जेन.
 ११ क. मुंचइ. १२ ज. ड्वाइ परा. १३ अ. क. विंदु वि घड पडइ.
 १४ अ. क. गलियउ.

१२७. कुछ अच्छे, मनमोहक गीत की, हे जीव, अभिलाषा
कर्णेंद्रिय (मत कर)। कर्णहारी गीत के रस से हरिण
विनाश को प्राप्त हुए।

१२८. एक ही इन्द्रिय के स्वच्छन्द होने से सैकड़ों दुख
पंचेन्द्रिय प्राप्त होते हैं। जिसकी पांचों इन्द्रिय मुक्त हैं
उसका तो पूछना ही क्या है।

१२९. पांचों इंद्रियों के सम्बन्ध में ढीला मत हो। दो का
जिहा निवारण कर। एक जीभ को रोक और दूसरे
और परखी पराई नार।

१३०. गुरुवचन रूपी अंकुश से खींच, जिससे मद्वापन
मन रूपी हाथी, को छोड़कर मनरूपी हाथी संयम रूपी हरे भरे
संयमरूपी वृक्ष. वृक्ष की ओर मुख मोड़े।

१३१. क्रोध को छोड़ और क्षमा धारण कर। क्रोध रूपी
सत्री शुद्धि मैल से मुक्त हो। भ्रान्ति में पड़ा हुआ मनुष्य ही
चंडाल से छुआ जाकर स्नान से शुद्ध होता है।

१३२. हे जीव, मृदुता को मन में धारण कर जिससे
मादेव मान का प्रणाश हो। सूर्य के गगन में स्थित होने
पर तिमिर नहीं ठहर सकता।

१३३. माया को छोड़ जो थोड़ी भी विशुद्ध चरित्र को
मायासाग दूषित कर देती है। कांजी के बिन्दुमात्र से शुद्ध,
गुडीला दूध भी फट जाता है।

लोहु मिच्छि चउगइसलिलु हलुवउ जायइ जेम ।

लोहमुकु सायरु तरइ पेक्खि परोहणुं तेम ॥ १३४ ॥

मोहुं णु छिज्जउ दुब्बलउ होइ इयरु परिवारु ।

हलुवउ उग्घाडंतयहं अह व णिरग्गलुं वारु ॥ १३५ ॥

मिच्छत्तें णरु मोहियउ पाउ वि धम्मु मुणेइ ।

भंति कवण धनूरियउ डेलु वि सुवण्णु भणेइ ॥ १३६ ॥

जइ इच्छंहि संतोसु करि जिय सोक्खहं विउलाहं ।

अह वा णंदु ण को करइ रवि मेल्लिवि कमलाहं ॥ १३७ ॥

मणुयहं विणयविवजियहं गुण सयल वि णामंति ।

अह सरवरि विणु पाणियइं कमलइं केम रहंति ॥ १३८ ॥

विजावच्चं विरहियउ वयणियरो वि ण ठाइ ।

सुक्कसरहु किं हंसउलु जंतउ धरणहं जाइ ॥ १३९ ॥

सज्झाएं णाणह पसरु रुज्झइ इंदियगाउ ।

पच्चूसें सूरुग्गमाणि धूयँडकुलु णिच्छाउ ॥ १४० ॥



१ क. परोहण. २ द. मोहुण छिज्जइं. ३ अ. क. द.
 णिरग्गल. ४ अ. क. डेलु वि सुवण्णु. ५ अ. ज. द. अच्छहि.
 ६ ज. कु वि. ७ अ. क. धूवड.

१३४. लोभ को छोड़ जिससे चतुर्गति रूपी जल हलका हो जाय। देख, लोहमुक्त प्ररोहण (नौका) सागर को तर जाती है।
लोभत्याग
१३५. मोहका क्षय हो जाने से अन्य परिवार (आपही) दुर्बल हो जाता है। अर्गला रहित द्वार उघाड़ने में हलका होता है।
मोहत्याग
१३६. मिथ्यात्व से मोहित नर पाप को भी धर्म मानता है। धतूरे से मत्त पुरुष दल को भी सुवर्ण कहे इसमें क्या भ्रान्ति है।
मिथ्यात्व
१३७. यदि खूब सुख की इच्छा है, तो, हे जीव, सन्तोष कर। कमलों को आनन्द सूर्य को छोड़कर और कौन करेगा ?
सन्तोष
१३८. विनय से विवर्जित मनुष्यों के सकल गुण नष्ट हो जाते हैं। विना पानी के सरोवर में कमल किस प्रकार रह सकते हैं ?
विनय
१३९. वैयावृत्य से विरहित व्रतों का समूह भी नहीं ठहरता। सूखे सरोवर से जाता हुआ हंसकुल क्या धरा (रोका) जा सकता है ?
वैयावृत्य
१४०. स्वाध्याय से ज्ञान का प्रसार और इंद्रिय-ग्राम का अवरोध होता। है प्रातःकाल के सूर्योदय में घुग्घू-कुल निष्प्रभ होजाता है।
स्वाध्याय

गुणवंतहं सह संगु करि भल्लिम पावहि जेम ।
 सुवणसुपत्तविवज्जियउ वरतरु बुच्चंइ केप ॥ १४१ ॥
 सत्तु वि महुरइं उवसमइ सयल वि जिय वप्पि हुंति ।
 चांइ कवित्ते पोरिसइं पुरिसहु होइ ण कित्ति ॥ १४२ ॥
 भोयणु मँउणें जो करइ सरसइ सिज्झइ तासु ।
 अहँ वा वसइ समुद्धि जिय लच्छिम करहुं णिवासु ॥ १४३ ॥
 विसयकसाय वसणाणिवहु अणु जि मिच्छाभाउ ।
 पिसुणत्तणु ककसवयणु मिच्छंइ सयलु अणाउ ॥ १४४ ॥
 अण्णाएं आवंति जिय आवइ धरण ण जाइ ।
 उम्मगगें चल्लंतयहं कंटंइं भज्जइ पाउ ॥ १४५ ॥
 परिहरि पुत्तु वि अप्पणउ जसु अण्णायपवित्ति ।
 अप्पणियइं लालइं मरइ कुसियारउ णउ भंति ॥ १४६ ॥
 अण्णाएं बलियेहं वि खउ किं दुब्बल्लेहं णै जाइ ।
 जहिं वाएं वच्चंति गय तँहिं किं सूणीं ठाइ ॥ १४७ ॥

१ ज. द. सवण. २ क. सपत्त. ३ ज. बुज्झइ. ४ क.
 चाउ; अ. चाड. ५ अ. मोणि. ६ द. अह व वलाइ; ज. वसाय.
 ७ अ. क. ज. करइ. ८ क. वसाणे कसाय विसममय. ९ अ. क.
 द. मिच्छिचि. १० अ. ज. कंटउ. ११ अ. बलियउ. १२ अ. क. ज. द.
 दुब्बल्लउ. १३ ज. द. म. १४ क. ज. तिह.

१४१. गुणवर्तों का संग कर जिससे भलाई पावे । सुबन सुसगति और सुपत्रों से विवर्जित उत्तम वृक्ष कैसे कहा जा सकता है ?
१४२. शत्रु भी मधुरता से शान्त हो जाता है और सभी माधुर्य, त्याग जीव वश में हो जाते हैं । त्याग, कवित्व और और पौरुष पौरुष से पुरुष की कीर्ति होती है ।
१४३. जो मौन से भोजन करता है उसे सरस्वती सिद्ध होती है । लक्ष्मी समुद्र में निवास करती है इसलिये समुद्र (स्व+मुद्रा) में उसका निवास बनाओ ।
१४४. विषय-कषाय, व्यसनसमूह, पिशुनत्व, कर्कशवचन त्याग्य-भाव और सकल अन्याय इनको छोड़ ।
१४५. अन्याय से (लक्ष्मी) आती तो आजाती है पर अन्याय धरी (रोकी) नहीं जा सकती । उन्मार्ग से चलने वालों का पांव कांटे से भग्न होता है ।
१४६. जिसकी अन्याय में प्रवृत्ति हो उसका परिहार कर अन्यायी का त्याग चाहे वह अपना पुत्र भी हो । कुसियारा अपने ही लाल (लार) से मरता है, इसमें भ्रान्ति नहीं ।
१४७. अन्याय से बलवानों का भी क्षय हो जाता है, क्या अन्याय से नाश दुर्बल का न होगा ? जहां वायु से गज भी उड़ जाते हैं वहां क्या कुत्ती ठहर सकती है ?

अण्णाणं दालिदियहं रे' जिय दुहु आवग्गु ।
 लक्कडियहं विणु खोडयहं मग्गु साविकखल्लु दुग्गु ॥ १४८ ॥
 अण्णाणं दालिदियहं ओहट्टइ णिव्वाहु ।
 लुग्गउ पायपसारणहं फाट्टइ को संदेहु ॥ १४९ ॥
 ता अच्छउ जिय पिसुणमइ संगु जि ताह विरुद्धु ।
 सप्पहं संगे कट्टियउ चंदणु पिकखु सुयंधु ॥ १५० ॥
 विहड्ढावइ ण हु संघडइ पिसुणु परायउ णेहु ।
 टालइ रयइ ण उच्छिउ उंदरु को संदेहु ॥ १५१ ॥
 धम्मं विणु जे सुक्खइ तुट्टा गया वियार ।
 जे तरुवर खंडिवि खुडिय ते फल इक्क जि वार ॥ १५२ ॥
 सुहियउ हुवउ ण को वि इह रे जिय णरु पावेण ।
 कम्मि ताडिउ उट्टियउ गिंदुउ दिट्टउ केण ॥ १५३ ॥
 रे जिय पुव्व ण धम्मु किउ एवहिं करि संताव ।
 भंति कवण विणु णावियइं खडहडि णिवडइ णाव ॥ १५४ ॥

१ ज. द. अरे. २ ज. द. लक्कडियहं. ३ अ. क.
 साविकखल्लु ४ अ. ज. फट्टइ. ५ अ. पिकख. ६ अ. क. रयणिहिं
 उच्छिउ. ७ अ. उंदरु ८ ज. द. ण होइसइ अरि जिय को
 पावेण ९ ज. छिंदुउ; द. सिंदुउ.

१४८. हे जीव, अन्याय से दरिद्रियों का दुःख बढ़ता है । अन्याय से विना लकड़ी के खोड़े के मार्ग कीचड़मय और दुर्गम हो जाता है ।
१४९. अन्याय से दरिद्रियों का निर्वाह भी टूट जाता है । जीर्ण वस्त्र पाँव पसारने से फटेगा ही निर्वाह-हानि इसमें क्या सन्देह है ।
१५०. इसलिये, हे जीव, पिशुनमति को अलग रहने दे । पैशुन्य उसका संग भी विरुद्ध (बुरा) होता है । सर्प के संग से, देख, सुगन्धी चन्दन भी काट डाला जाता है ।
१५१. पिशुन पराये स्नेह को तोड़ता है जोड़ता नहीं । उंदीर (मूषक) उत्तरीय (वस्त्र) को काटता है, रचता नहीं ।
१५२. धर्म के बिना जो सुख भोगे हैं वे विचारले कि धर्मरहित सुख टूट गये । जो वृक्ष को काटकर खोटे गये हैं वे फल एक बार के ही हैं ।
१५३. हे जीव, पाप से यहां कोई नर सुखी नहीं हुआ । पाप से सुख कीचड़ में मारी हुई गेंद उठती हुई किसने देखी है ?
१५४. हे जीव, ' पूर्व में धर्म नहीं किया ' इसका संताप धर्म नाशिक है कर । बिना नाशिक के नाव चट्टानों पर जा पड़े तो इसमें क्या भ्रान्ति है ।

जेण सुदेउ सुणरु हवसि सो पइं कियउ ण धम्म ।
 विण्णि वि छत्ते वारियहि इकु पाणिउ अरु धम्म ॥ १५५ ॥
 अभयदाणु भयभीरुंयहं जीवहं दिण्णु ण आसि ।
 वार वार मरणहं डरहि केम चिराउंसु होसि ॥ १५६ ॥
 विजावच्चु ण पइं कियउ दिण्णु ण ओसहदाणु ।
 एवहिं वाहिहिं पीडियउ कंदि म होहि अयाणु ॥ १५७ ॥
 संघहं दिण्णु ण चउविहं मत्तिए भोयणदाणु ।
 रे जिय काइं चडप्फडहि दूरीकयणिन्वाणु ॥ १५८ ॥
 पोत्थय दिण्ण ण मुणिवरहं विहिय ण सत्थहं पुज्ज ।
 मइ पंडियउ कवित्तुं गुणु चाहहि केम णिलज्ज ॥ १५९ ॥
 पाउ करहि सुहु अहिलसहि परं सिविणे वि ण होइ ।
 माहण्णिबे वाह्येइ अब कि चक्खइ कोइ ॥ १६० ॥
 गुरुआरंभं णेरयगइ तिन्वकसाय हवंति ।
 इकळ्हिय पाहणभरिय बुड्ढि णाव ण भंति ॥ १६१ ॥

१ ज. विरयहि. २ अ. भीतयहं. ३ ज. विरायउ
 ४ अ. संपहं. ५ अ. क. द. विहहं. ६ ज. कविस्स°. ७ क. द.
 परि. ८ ज. मायइ. ९ अ. ज. वाधियइ. १० अ. द. आरंभहं.
 ११ अ. क. णिरय°.

१५५. जिससे सुदेव और सुनर होता है उस धर्म को धर्म के बिना नरत्व और देवत्व नहीं तूने नहीं किया। दोनों का छत्र से निवारण कर सकेगा, एक पानी और (दूसरा) घाम।
१५६. भयभीतकों को कभी अभयदान नहीं दिया। अब चिरायु क्यों न हुआ ? बार बार मरने से डरता है। चिरायु कैसे हो सकता है।
१५७. तूने न वैयावृत्य किया, न औषधदान दिया, व्याधियों से इसलिये व्याधियों से पीडित हुआ है। हे अज्ञानी, पीडित क्यों हुआ ? कठोर मत हो।
१५८. चतुर्विध संघ को भक्ति से भोजनदान नहीं दिया। निर्वाण से दूर रे जीव, निर्वाण को दूर करके अब क्यों तड़फड़ाता है ? क्यों हुआ ?
१५९. मुनिवरों को पोथी नहीं दीं, न शास्त्रों की पूजा मति आदि की। मति, पाण्डित्य, कवित्व व गुण किस प्रकार गुण क्यों न हुए ? चाहता है, निर्लज्ज ?
१६०. पाप करता है और सुख चाहता है, पर वह स्वप्न पाप से सुख नहीं होता। मरिफल व नीम बोलने से क्या नहीं। कोई आम चख सकता है ?
१६१. बड़े आरम्भ से तीव्र कषाय और नरक गति होती है। पाषाणों से भरी नाव एक ही छिद्र से डूब जाती है इसमें भ्रान्ति नहीं।

कूडतुलामाणाइयहं हरिकरिखरविसमेस ।

जो णच्चइ णंडपेखणउ सो गिणहइ बहुवेसै ॥ १६२ ॥

हँलुवारंभहं मणुयगइ मंदकसायहं होइ ।

छुडु सावउ धणु वाहुडइ लाहउ पुणरवि होई ॥ १६३ ॥

सम्मत्तें सावयवयहं उप्पज्जइ सुरराउ ।

जो गविणिट्टउं छंडियइ सो वारइ किम जाउं ॥ १६४ ॥

धम्मं जं जं अहिलसइ तं तं लहइ असेसु ।

पार्वे पावई पावियउ दालिहु वि सकिलेसु ॥ १६५ ॥

धम्मं हरिहलचक्कवइ कुलयरु जायइ कोइ ।

भुवणत्तयवंदियचलणु कु वि तित्थंकरु होइ ॥ १६६ ॥

जासु जणणि सग्गागमणि पिच्छइ सिविणयपंति ।

पहतेएं संभावियइ सूरुग्गमणुं ण भंति ॥ १६७ ॥

जो जम्मुच्छवि ण्हावियउ अभियषडहिं सक्केण ।

किम ण्हाविज्जइ अतुलबलु जिणु अह वासक्केण ॥ १६८ ॥

१ ज. कुडतुल्ला कुडमाणयहं. २ ज. णहु. ३ अ. क.
भेस. ४ अ. क. लहुआ°. ५ क. कोइ. ६ क. योगविणट्टुउ;
अ. द. जिट्टिउ. ७ अ. जाइ. ८ क. द. पावह. ९ ज. णि.

१६२. कूट तुला, मानादि (झूठे तराजू, बांट आदि)
कपट-व्यापार रखने वाले सिंह, हाथी, गधा, विषवाले व मेष
का फल (बकरा) होते हैं । जो नट का तमाशा करता
है वह बहुत वेष धारण करता है ।
१६३. लघु आरम्भ और मन्दकषाय वालों को मनुष्य-
मनुष्य-गति गति प्राप्त होती है । यदि आवश्यक धन का व्यापार
की प्राप्ति करता है तो फिर लाभ होता ही है ।
१६४. सम्यक्त्व-सहित धावक के बतों से सुरराज
द्वन्द्वत्व-प्राप्ति उत्पन्न होता है । जो इन्द्रियों की निष्ठा को छोड़
देता है वह जाने से कैसे रोका जा सकता है ?
१६५. धर्म से जो जो अभिलाषा करता है सो सब पाता
यथेष्ट प्राप्ति है । पाप से पापी क्लेशमय दारिद्र्य पाता है ।
१६६. धर्म से कोई हरि, हर, चक्रवर्ती व कुलकर उत्पन्न
तीर्थकर होता है और कोई तीर्थकर होता है जिनके चरणों
पद-प्राप्ति की तीनों लोक बन्दना करते हैं ।
१६७. स्वर्ग से आगमन के समय उनकी जननी स्वप्न-
गर्भकल्याण पाङ्क्ति देखती है । सूर्योदय प्रभा के तेज से
संभावित होता है इसमें भ्रान्ति नहीं ।
१६८. जन्मोत्सव के समय उनका स्नान शक्र अमृत के
जन्म कल्याण घड़ों से करता है । अतुलबली जिन मगवान्
अशक्त के द्वारा कैसे नहलाने जा सकते हैं ।

सुरसायरि जसु णिकमणि वल्लइ चिहुरं सुरिंदु ।
 अह उच्चमकज्जहं हवइ ठाउ जि खीरसमुहु ॥ १६९ ॥
 णाणुग्गमि जसु समसरणि पत्तामरसंघाउ ।
 होइ कमलमउलियभसलु सूरुग्गमणि तलाउ ॥ १७० ॥
 जसु पत्तुत्तमराइयउ विलुलंतो वि असोउ ।
 अइदुरुज्झियपरियणहं किम उप्पज्जइ सोउ ॥ १७१ ॥
 वारिउ तिमिरु जिणिसरहं भामंडलु अइदित्तु ।
 हयतमु होइ सुहावणउ इत्थु ण काइं विचित्तु ॥ १७२ ॥
 माहउसरणु सिलीमुहउ कुसुमासणि थिप्पंदि ।
 सुमणस अलियविवज्जिया जिणचलणहं णिवडंति ॥ १७३ ॥
 धवलु वि सुरमउडंकियउ सिंहासणु बहु रेइं ।
 अह वा सुरमणिमंडियउ जिणवैरआसणु होइ ॥ १७४ ॥
 सइमित्तिण दुंदुहि रइइ छंडहु जीवहं खेरि ।
 हकारइ णर तिरिय सुर एरिस होइ सँ भेरि ॥ १७५ ॥

१ द. णिकसवणि. २ ज. चिहुरु. ३ ज. कमलु. ४ ज.
 द. 'त्तामि. ५ ज. रोइ. ६ अ. 'हरु; ज. 'हरि; द. 'वरि.
 ७ अ. सु (सु. ?); द. म.

१६९. निष्क्रमण के समय सुरेन्द्र उनके केशों को तप कल्याण सुरसागर में घालते (डालते) हैं। उत्तम कार्य का ठाँव भी क्षीरसमुद्र होता है।
१७०. ज्ञानोदय के समय उनके समवशरण में देवों का समूह प्राप्त होता है। सूर्योदय के समय तलाब कमलों पर मुकुलित भ्रमरों से युक्त होता है।
१७१. उनके ऊपर उत्तम पत्रों से विराजित अशोक लहलहाता है। जिन्होंने परिजनों का बहुत दूर से परित्याग कर दिया उन्हें कैसे शोक उत्पन्न हो सकता है ?
१७२. जिनेश्वर का अंधकार दूर हुआ है, अतः उनका भ्रामण्डल अतिदीप्तिमान, तम का नाश करने वाला और सुहावना होता है इसमें कुछ विचित्र नहीं है।
१७३. माधवशरण शिर्षमुख कुसुमासन पर तृप्त हो जाते हैं और अलीकविबर्जित सुमनस जिन भगवान् के चरणों में पड़ते हैं।
१७४. सुरमुकुटांकित धवल सिंहासन भी बहुत शोभायमान है। जिनवर का आसन सुरमणि-मंडित होता है।
१७५. शब्द के मिय से दुंबुभि रटती है 'जीवों के प्रति द्वेष छोड़ो'। वह नर, तिर्यञ्च और सुरों को हकारती है। वह भेरी पेशी होती है।

चामर ससहरकरधवल जसु चउसद्धि पडंति ।
 हरिसिय जिणपासट्टिया अह सच्चामर हुंति ॥ १७६ ॥
 छच्छं छणससिपंडुरं सुर णर णाय धरंति ।
 विसहरसुरचाक्किहिं गहिय जिणपुंडरिय हवंति ॥ १७७ ॥
 झुण्णिअबिखयसंपुण्णहल जीवा सासणि जासु ।
 अमियसरिसं हियमहुर गिर अह व ण वल्लह कासु ॥ १७८ ॥
 एह विहूइ जिणेसरहं हुव धम्मं एवहं ।
 वणसइ णयणाणंदयरि होइ वसंतं मंड ॥ १७९ ॥
 एवंविहुं जो जिणु महइ वंछिउ सिज्झइ तासु ।
 वीजं अह वा सिंचियं खेत्तिय होइ ण कासु ॥ १८० ॥
 जो जिणु ण्हावइ धयपयहिं सुरहिं ण्हविज्जइ सोइ ।
 सो पावइ जो जं करइ एहु पसिद्धउ लोइ ॥ १८१ ॥
 गंधोएण जि जिणवरहं ण्हावियं पुण्णु बहुत्तु ।
 तेलहं बिंदु वि विमलजेलि को वारइ पसरंतु ॥ १८२ ॥

१ अ. 'हं. २ अ. धुणि; ज. मुणि. ३ ज सद्धिय.
 ४ अ क. इववइ. ५ अ. क. 'विह. ६ ज. द. विजं. ७ ज.
 संधिययं ८ ज. ण्हाविहिं. ९ द. तेलहे. १० अ. जलिहिं.

१७६. चन्द्रकिरणों के समान धवल चौसठ अमर उनके चमर ऊपर बुलते हैं। हर्ष से जिन भगवान् के पास स्थित होने वाले सषामर (सषे अमर) होते हैं।
१७७. पूर्णचन्द्र के समान श्वेत छत्र सुर नर और नाग छत्र धारण करते हैं। जिन भगवान् के पुंडरीक (छत्र) विषधर, सुर और चक्रवर्तियों द्वारा गहे जाते हैं।
१७८. उनके शासन में ध्वनि द्वारा जीवों के सम्पूर्ण दिव्यध्वनि फलों का व्याख्यान होता है। अमृत के सदृश, हृदयमधुर गिरा किसे प्यारी नहीं लगती ?
१७९. यह जिनेश्वर की इतनी विभूति धर्म से ही हुई है। नयनानन्दकारी वनश्री बसन्त से ही मण्डित होती है।
१८०. इस प्रकार के जिन भगवान् की जो पूजा करता जिन-पूजा है उसका वाञ्छित सिद्ध होता है। बीज के सर्चिने से किसकी खेती (समृद्ध) नहीं होती ?
१८१. जो जिन भगवान् को घृत और पय से स्नान घृत-पय-प्रक्षाल करवाता है उसे सुर नहलाते हैं। 'जो जैसा करता है तैसा पाता है' यह लोक में प्रसिद्ध ही है।
१८२. जिनवर के गंधोदक स्नान से बहुत पुण्य होता गंधोदक-प्रक्षाल है। विमल जल में पड़े हुए तेल के बिन्दु को फैलने से कौन रोक सकता है ?

जलधारा जिम्पयमयउ रयहं षणासई णामु ।
ससहरकिरणकगालियहं तिमिम्हु किच्चिउ थामु ॥ १८३ ॥

जो चच्चइ जिणु चंदणइ होइ सुरहि तसु देहु ।
तिळ्हे जह दीवहं गयइ उओइअई गेहु ॥ १८४ ॥

जिणु अच्चइ जो अक्खयहिं तसु वरवंसपसइ ।
अह विहियइं सुयपंचमिहि होइ वि चक्किविहूइ ॥ १८५ ॥

खुडइ भोउ ण तसु महइ जो कुसुमहिं जिणणाहु ।
अह सरवैरि णइसारिणइ पाणिउ होइ अगाहु ॥ १८६ ॥

णेवअइं दिण्णइं जिणहु जिय दालिदहु णामु ।
दुरिउ ण दुक्कइ तहुं णरहु लच्छिहि होइ ण णामु ॥ १८७ ॥

दीवइं दिण्णइं जिणवरहं मोहहुं होइ ण ठाउ ।
अह उववासहिं रोहिणिहिं सोउ विपलयहु जाइ ॥ १८८ ॥

धूवउ खेवइ जिणवरहं तसु पसरइ मोहग्गु ।
इत्थु म कायउ भंति करि तें पडिबद्धउ सग्गु ॥ १८९ ॥

१ क. पयासर. २ क. उज्जोवज्जइ. ३ अ. क. द. सरवर;
ज. सरवणइं सारणइं. ४ अ. द. तहो; ज. तसु. ५ द. मोहइ.

१८३. जिनदेव के चरणों पर की जलधारा रज का नाम
जल-प्रक्षाल
फल तक्र नष्ट कर देती है। चंद्रकिरणों से करालित
तिमिर का कितना सामर्थ्य है ?
१८४. जो जिन भगवान् की चन्दन से पूजा करता है
चन्दन-पूजा
फल उसका शरीर सुगन्धित होता है, जैसे कि दीप में
डाले तेल से घर में उजेला किया जाता है।
१८५. जो अक्षतों से जिनदेव को पूजता है उसका उत्तम
अक्षत-पूजा,
श्रुत-पंचमी फल वंश में जन्म होता है, और श्रुतपंचमी के विधान
से चक्रवर्ती की विभूति होती है।
१८६. जो पुष्पों से जिनदेव को पूजता है उसका कभी
पुष्प-पूजा
फल भोग नहीं खुटता। सरोवर में नदी की नहर
मिला देने से पानी अगाध हो जाता है।
१८७. जिनदेव को नैवेद्य चढाने से, हे जीव, दारिद्र्य का
नैवेद्य-पूजा
फल नाश होता है, उस मनुष्य को पाप नहीं लगता
और लक्ष्मी का विनाश नहीं होता।
१८८. जिनवर को दीप चढाने से मोह को स्थान नहीं
दीप-पूजा,
रोहिणी उपवास फल मिलता, और रोहिणी के उपवास से शोक भी
प्रलय को पहुंच जाता है।
१८९. जो जिनवर को धूप खेता है उसका सौभाग्य
धूप-पूजा
फल फैलता है। इसमें कुछ भी आम्ति मत कर कि
उसने स्वर्ग बांध लिया।

देइ जिषिदहं जो फलहं तसु इच्छियहं फलति ।
 भोयघरहं गय रुक्खडा सयल मणोरहं दिंति ॥ १९० ॥

जिणपयगयकुसुमंजलिहिं उत्तमसियसंजोउ ।
 सरमयसविकिरणावलिण्ण णलिभिहिं लच्छिम होइ ॥ १९१ ॥

जिणपडिमइं कारावियइं संसारहं उत्तारु ।
 नमणद्धियहं तरंडउ वि अह व ण पावइ पारु ॥ १९२ ॥

जिणभवणइं कारावियइं लब्भइ सग्गि विमाणु ।
 अह ठिकइं आराहणहं होइ समाहिहि ठाणु ॥ १९३ ॥

जो धवलावइ जिणभवणु तसु जसु कहिं मि ण माइ ।
 ससिकरंणियरु सरयमिलिउ जगु धवलणहं वसाइ ॥ १९४ ॥

जो पइठावइ जिणवरहं तसु पसरइ जग्गि किति ।
 उवहिवेल छणससिगुणहं को वारइ पसरंति ॥ १९५ ॥

आरंत्तिउ दिण्णउ जिणहं उज्जोयइ सम्मत्तु ।
 भुवणुब्भासइ सुरगिरिहिं सरु पयाहि ण दिंतु ॥ १९६ ॥

१ द. मणोरहर हुंति. २ ज. द. होउ. ३ क. ५हु; द.
 हो. ४ ज. आराहणहं; द. आराहणिहिं. ५ ज. संसिहर. ६ क.
 गुणहं. ७ ज. दीघउ दिण्णउ जिणवरहं. ८ क. द. उज्जोय.

१९०. जो जिनेन्द्र को फल चढाता है उसके योग्य फल प्राप्त होता है । भोगभूमि के वृक्ष उसके सब मनोरथों को पूरा करते हैं ।
फल-पूजा फल
१९१. जिनदेव के पद पर चढाई कुसुमाञ्जलि से उत्तम श्री का संयोग होता है । सरोवर में पकी रवि की किरणावलि से कमलों में लक्ष्मी आती है ।
कुसुमाञ्जलि फल
१९२. जिनप्रतिमा कराने से संसार से उतार होता है । गमन के लिये उद्यत पुरुष को तरङ्ग (डोंगा) ही पार लगाता है ।
जिन-प्रतिमा कराने का फल
१९३. जिन-मन्दिर बनवाने से स्वर्ग में विमान मिलता है, और आराधना की टीका करने से समाधि में स्थिति होती है ।
जिनमंदिर निर्माण फल
१९४. जो जिन-मन्दिर को घबल करवाता है (सफेदी करवाता है) उसका यश कहीं नहीं माता । शरत्काल से मिलकर चन्द्रकिरणों का समूह जगत् भर को धबल बना देता है ।
जिनमंदिर की सफेदी कराने का फल
१९५. जो जिनबर की प्रतिष्ठा करता है उसकी जगत् में कीर्ति फैलती है । पूर्णचन्द्र के गुणों से प्रसाद करती हुई उदधि की वेला (तरंग) को कौन रोक सकता है ?
जिन-प्रतिष्ठा फल
१९६. जिनदेव को दी हुई आरती सम्यक्त्व का उद्योत करती है । सुरगिरि पर पदार्पण करते ही सर्व भुवन को उद्भासित कर देता है ।
भारती-फल

तिलयइं दिण्णइं जिणवरहं जग्गि अणुराउ ण माइ ।

चंदकंवि चंदहं मिलिउ पाणिय दिण्ण ण ठाई ॥ १९७ ॥

चंदोवइं दिण्णइं जिणहं मैणिमंडविय विमाल ।

अह संबंधाँ ससहरहं गहँतारायणमाल ॥ १९८ ॥

भव्वुच्छाहणि पावहरि जिणहँरि घंट रसंति ।

कुमुयाणंदणि तपहरणि छणजामिणि ण हु भंति ॥ १९९ ॥

चिंघचपरल्लत्तइं जिणहं दिण्णइं लँब्भइ रज्जु ।

अह पारोहहिं णिग्गयहिं वडु वित्थरइ ण चोञ्जु ॥ २०० ॥

जिणहरि लिहियइं मंडियइं लच्छि सँमीहिय होइ ।

पुण्णु महंतउ तासु फलु कहिवि णं सक्कइ कोइ ॥ २०१ ॥

जंबूदीउ समोसरणु णंदीसरं लोयाणि ।

जिणवरभवणि लिहावियइं सयलहं दुक्खहं हाणि ॥२०२॥

दिण्णइं वत्थ सुअजियहं दिव्वंबर लब्भंति ।

याणिउ पेसिँउँ पउमिणिहिं पउमइं देइ ण भंति ॥ २०३ ॥

१ ज, उदउ कि दित्ती ठाइ. २ द, महि. ३ अ, ज. संबंधी. ४ ज, गयं. ५ क, ंबर; द, ंहर. ६ ज, ंछत्तहं. ७ क, द, भव्वइ. ८ ज, समाहिय. ९ ज, कि. १० ज, द. णंदीसरि. ११ क, दिण्णै; ज, द, दिण्णा. १२ अ, क, ज, पोसिउ.

सारंभइं षड्वणाइयहं जे सावज्जे भर्णाति ।
 दंसणु तेहिं विणासियउ इत्थु ण कायउ मंति ॥ २०४ ॥
 पुंगलु जीवइं सहु गणियं जो इच्छइ घणचाउ ।
 ईणि सम्मते तसु तणइं किम सम्मतु म जाउ ॥ २०५ ॥
 सम्मत्ते विणु वय वि गय वयहं गयहं गउ घम्मु ।
 धम्मं जंते सुक्खु गउ ते विणु णिप्फलु जम्मु ॥ २०६ ॥
 पुष्परासिण्हवणाइयइं पाउ लहुं वि किउ तेण ।
 विसकणियइं बहु उवाइजलु णउ दूसिजइ जेण ॥ २०७ ॥
 ते सम्मतु महारयणु हिययंचलि थिरुं बंधि ।
 ते सहु जहिं जहिं जांहि जिय तहिं तहिं पार्वहि सिद्धि ॥ २०८ ॥
 दाणच्चणविहि जो करइ इच्छियं भोयणिबंधु ।
 विकरं सुमणि वराडियइं सो जाणहु जाचंधु ॥ २०९ ॥
 ते कम्मकत्वउ मग्गि जिय णिम्मल बोहिसमाहि ।
 षड्वणादाणपूजाइयैइं जे सासययइ जाहि ॥ २१० ॥

१ अ. द सावज्जु. २ क. पुंगल जीविइसुहु. ३ अ. क.
 द गणियः ज. गणियउ. ४ अ. क. णिसम्मत्तं. ५ अ. द. लहु
 किउ. ६ अ तुहं. ७ क. जाइ. ८ क. पावइ. ९ ज. द. इच्छइ.
 १० अ. विकिचि. ११ अ. क. पूजाइयइं.

२०४. जो अभिषेकादि के समस्तर्म्हों को सावध (विष-पूर्ण) कहते हैं उन्होंने दर्शन का नाश कर दिया, इसमें कोई भ्रान्ति नहीं।
२०५. जो पुत्रल को जीव का साथी गिनकर धन के निर्विषेक से त्याग की इच्छा करता है उसकी ऐसी सम्मति से सम्यक्त्वनाश सम्यक्त्व कैसे नहीं जायगा ?
२०६. सम्यक्त्व के बिना व्रत भी गये। व्रतों के जाने से धर्म गया। धर्म के जाने ही सुख भी गया जिसके से सुखनाश विना जन्म निष्फल है।
२०७. अभिषेकादि की पुण्यराशि में यदि किसी ने लज्जु पुण्यराशि में पाप भी कर लिया तो विष के एक कण से समुद्र भर का जल दूषित नहीं हो सकता।
२०८. इससे सम्यक्त्व रूपी महारत्न को हृद्य रूपी अंचल में स्थिरता से बांध। उसके साथ, हे जीव, जहां-जहां आसना, तहां तहां सिद्धि पावेगा।
२०९. जो भोगबंध की इच्छा से दानार्चन विधि करता भोगों की इच्छा है, वह जन्म का अंधा, जानो, उत्तम भाग को से धर्म कौड़ी मोल बेचता है।
२१०. इसलिये, हे जीव, अभिषेक, दान, पूजादि से कर्मों वाञ्छनीय फल के लय और निर्मूल बोधि समाधि की भांग कर जिससे शाश्वत यद् पर आये।

पुण्णु पाउ जसु मणि ण ससु तसु दुत्तरु भवसिधु ।
 कणयलोहणियलइं जियहु किं ण कुणहिं पयबंधु ॥२११॥
 ण हु विग्गासिय दलकमलु ससरु सबिंदु सरेहु ।
 वंछिजई इय कप्पयरु कामिउ कौ संदेहु ॥ २१२ ॥
 हियकमलिणि ससहरधवल मुद्ध फलिहसंकास ।
 भाइय पढिम जिणेसरहं तोडइ चउगइपास ॥ २१३ ॥
 जासुं हियइ अ सि आ उ सा पाउ ण दुक्कइ ताह ।
 अह दावाणलु किं करइ पाणियगहिरठियाह ॥ २१४ ॥
 जिय मंतइं सत्तक्खरइं दुरियइं दूरहु जंति ।
 अह सीहइं गुंजारियइं हरिणउलइं कहिं ठंति ॥ २१५ ॥
 बिणिसयइं अ सि आ उ सा जं वासरि फलु दिंति ।
 इक्कसएण वि तं जि फलु सत्तक्खरइं ण भंति ॥ २१६ ॥
 गरुडहं भावइं परिणवइ रे जिय जाव हि मंति ।
 ताव हि णरु विसघारियउ उट्ठावइं ण हु भंति ॥ २१७ ॥
 जिणु गुणु देइ अचेयणु वि वंदिउ णिदिउ दोसु ।
 इउ णियभावहं तणउ फलु जिणह ण रोसु ण तोसु ॥२१८॥

१ क. करहिं. २ अ. कमलवल. ३ अ. किं विंजइ.
 ४ अ. किं. ५ अ. द. जाहि. ६ क. ज. द. उट्ठावहि.

२११. जिसके मन में पुण्य और पाप समान नहीं हैं उसे पाप पुण्य की भवसिन्धु दुस्तर है। क्या कनक या लोहे की समता से मोक्ष निगड (शृंखला) प्राणी का पादबन्धन नहीं करती ?

२१२. स्वर, बिन्दु और मात्रा सहित सपत्र कमल का कमलाकार विकाश किये बिना यदि कोई कल्पवृक्ष की वाञ्छा सिद्धचक्र की पूजा करे तो वह कामी है इसमें क्या सन्देह है ?

२१३. हृदयकमल में भाई हुई चन्द्रधवल, स्फटिक के जिनप्रतिमा की समान शुद्ध, जिनेश्वर की प्रतिमा चतुर्गति के पारा भावना का फल (बन्धन) को तोड़ती है।

२१४. जिसके हृदय में अ सि आ उ सा हैं उसे पाप अ सि आ उ सा नहीं लगता। जो गहरे पानी में स्थित है उसका (पंच-परमेष्ठी) दावानल क्या कर सकता है ?

२१५. हे जीव, इस सात अक्षरों के मंत्र से सब पाप पापनाशक दूर भागते हैं। सिंह की गुंजार में कहीं हरिण मंत्र कुल ठहर सकते हैं ?

२१६. अ सि आ उ सा का प्रतिदिन दो सौ (जप) जो जप फल देता है वही फल सौ से भी होता है और सात अक्षरों से भी। इसमें भ्रान्ति नहीं।

२१७. हे जीव, जब मांत्रिक गरुडभाव में परिणत हो मंत्र से जाता है उसी समय वह विष से मूर्च्छित मनुष्य विषनाश को उठा देता है। इसमें भ्रान्ति नहीं।

२१८. अचेतन भी जिन (प्रतिमा) बन्धने से गुण और स्वभावानुसार निन्दा करने से दोष देती है। यह अपने भावों का फल ही फल है। जिन भगवान् को न रोष है न तोष।

मणुयत्तणु दुल्लहु लहिवि भोयहं पेरिउ जेण ।
 इंधणकज्जे कप्पयरु मूलहो खंडिउ तेण ॥ २१९ ॥
 दुल्लहु लहिवि णरत्तयणु विसयहं तोमिउ जेण ।
 षट्ठोलयत्तग्गंधियहं सुरयणु फोडिउं तेण ॥ २२० ॥
 दुल्लहु लहि मणुयत्तणउ भोयहं पेरिउ जेण ।
 लोहकज्जि दुत्तरत्तरणि णाव वियारिय तेण ॥ २२१ ॥
 दुण्णि सयहं त्रिसुत्तरइं पढियइं सिवगइं दित्ति ।
 धम्मधेणु संदोहयहं वरपउ दित्ति ण भंति ॥ २२२ ॥
 णयंसुरसेहरमणिकिरणपाणिय पयपोमाइं^१ ।
 संघहं जाइं समुल्लसहिं ते जिण दित्तु सुहाइं ॥ २२३ ॥
 दंसणु णाणु चरित्तु तउ रिसिगुरु जिणवरदेउ ।
 बोहिसमाहिए सहुं मरणु भवि भवि हुज्जउं एउ ॥ २२४ ॥

इय सावयधम्मदोहा समत्ता ।

१ ज. भ. में यह दोहा नहीं है. २ क. फेडिउ. ३ अ. वाधी-
 सुत्तरइं. ४ ज. सिवसुहु. ५ क. णव. ६ क. जे पाणियधेमाइं;
 द. धुत्तिपाणियपोमाइं. ७ अ क. ज. द. जाइ. ८ अ. तेण जि
 णुत्त सहाइ. ९ अ. सिरिं १० क. विज्जउ बइ.

२१९. दुर्लभ मनुजत्व को पाकर जिसने उसे भोगों में मनुष्य जन्म का प्रेरण उसने इन्धन के लिये कल्पतरु को मूल से दुरुपयोग काट डाला ।
२२०. दुर्लभ नरत्व का लाभ पाकर जिसने विषयों में संतोष माना उसने छत्रपट में गांठ देने के लिये (?) उत्तम रत्न को फोड़ डाला ।
२२१. दुर्लभ मनुजत्व को पाकर जिसने उच्छे भोगों में प्रेरण उसने दुस्तरतरणि नाव को उसका लोहा निकालने के लिये तोड़ डाली ।
२२२. ये बीस ऊपर दो सौ दोहे पढ़ने से शिवगति देते हैं । धर्मधेनु अच्छे दोहकों (दुहने वालों) को उत्तम पय (दुग्ध या पद) देती है इसमें भ्रान्ति नहीं ।
२२३. नमस्कार करते हुए देवों के मुकुटमणियों के सुख की प्रार्थना किरणरूप पानी के संसर्ग से जिनके कमलरूपी चरण प्रकाशमान हैं वे जिनदेव सुख प्रदान करें ।
२२४. दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप, ऋषि-गुरु, जिनवर-देव भ्रान्तिम विनति और बोधिस्समाधि सहित मरण, ये भव भव में हों ।

इति श्रावकधर्मदोहा समाप्त ।

परिशिष्ट

किसी किसी पोथी में कुछ दोहे अधिक पाये जाते हैं जो प्रक्षिप्त ज्ञात होते हैं। वे यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

दोहा नं. २२ और २३ के बीच म. प्रति में—

मज्जहु तिजहु भव्ययणु जेण मई विपरीय ।
हीणकुलेसु य जोय कही तसथावर उवजंति ॥
परिहरि मांसहु अरि जिय पंचेहि णासी पसेहि ।
तस्सु वि थावर धाइही सम्मोछिय बहु होइ ॥

अनुवाद—हे भव्यजन मद्य को त्यागो जिससे मति विपरीत हो जाती है। वह हीनकुलवालों के योग्य कही है। उसमें त्रस और स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं।

रे जीव, मांस का परिहार कर। वह पंचेन्द्रिय जीवों के नाश से प्राप्त होता है। उसमें भी त्रस, स्थावर व सम्मूर्छन जीव बहुत होते हैं।

दोहा नं. २८ और २९ के बीच क. प्रति में—

चउ प इंदिय विणिण छह अट्टह तिणिण हवंति ।
दह चउरिंदिय जीवडा बारह पंच हवंति ॥

इसमें जीवभेदों की संख्या दी है। इसके लिये 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' देखिये।

दोहा नं. ३६ और ३७ के बीच क. प्रति में—

उक्तं च—सामान्यतो निशायां च जलताम्बूलमौषधम् ।
गृह्णातु चैव गृह्णन्तु नैव प्राह्यं फलादिकम् ॥

यह दोहा नं. ३७ के भाव की पुष्टि के लिये अन्य ग्रन्थसे उद्धृत किया गया है ।

दोहा नं. ७६ और ७७ के बीच म प्रति में—

भरहे पंचमकालहि ण स्सेणी महव्वयधारी ।
अत्थि अणुव्वयधारी कोट्टिहि लक्खेसु कोई ॥

अनुवाद—भरतक्षेत्र में, पंचमकाल में, भ्रैणीबद्ध महाव्रतधारी (मुनि) नहीं होते । अणुव्रतधारी भी लाखों करोड़ों में कोई होता है ।

दोहा नं. १८१ और १८२ के बीच क. प्रति में—

जिणु ण्हावइ उत्तमरसहिं सक्करअम्मभवेहिं ।
सो नरु जम्मोवहि तरहि इत्थु म भंति करेहि ॥
जो धियकंचनवण्णडइ जिणु ण्हावइ धरि भाउ ।
सो दुग्गइ गइ अवहरइ जम्मि ण दुक्कइ पाउ ॥
दुद्धं जिणवरु जो ण्हवइ मुत्ताहलधवलेण ।
सो संसारि ण संभवइ मुच्चइ पावमलेण ॥
दुद्धन्नडाडडि उत्तरइ दडवड दहिउ पडंति (तु) ।
भवियहं मुच्चइ कलिमलहं जिणविट्ठु विहसतुं ॥
सव्वोसहि जिणण्हाहियहं कलिमलरोष गलंति ।
मणवंछिमसय संभवहिं मुणिगण पम भणंति ॥

अनुवाद—जो जिन भगवान् को शक्र और वायुके उत्तम रसों से नहलाता है वह नर जन्मोदधि को तरसा है इसमें अति मत करो.

जो कंचनवर्णी वृत्त से जिन भगवान् को भाव धारण कर नहलता है वह दुर्गति गति को बुर करता है और जन्मभर उसे पाप नहीं लगता ।

जो मुक्ताफल के समान धवल दूधसे जिनवर को स्नान कराता है वह संसार में उत्पन्न नहीं होता और पापमल से मुक्त होजाता है ।

दुध की धार के पश्चात् शीघ्र दधि पड़ता हुआ तथा जिन भगवान् को देखकर प्रसन्न होता हुआ भव्यों को कलिमल से मुक्त कर देता है ।

सर्बोदधि से जिन भगवान् को नहलाने से कलिमल के रोग दूर हो जाते हैं और सैकड़ों मनोवाञ्छित सिद्ध होते हैं । ऐसा मुनिगण कहते हैं ।

दोहा नं. २०६ और २०७ के बीच अ. प्रति में—

पारंभइ ण्हवणाइयइं जे सावय जि भणंति ।

दंसण नेहं विणासियउ पत्थु ण कायउ भंति ॥

(यह दोहा नं. २०४ से मिलता है)

दोहा नं. २२३ और २२४ के बीच क. प्रति में—

जो जिण्ण स्वासण भास्वियउ सो मइं कहियउ स्वर ।

जो पालोसइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु ॥

एहु धम्म जो आवरइ बउवण्णहं मह कोइ ।

सो णरु पारी मज्जयणु सुरयइ पावइ सोइ ॥

कारं बहुलं शंखियं तालू सूखइ जेण ।
 यहु परमक्खरु ओर छइ कम्मक्खरु दुइ तेण ॥
 भव्वयलम्मा सुवयण सुम्माइ गच्छइ तेण ।
 अह विट्ठिवउ भववयह कहिउ अ किन्नुउ तेण ॥

अनुवाद-जो जिनससन में कहा गया है वही सार मैंने कहा है ।
 जो भाव करके इसको पासेगा वह तैर के पार पावेगा ।

इस धर्म का चतुर्वर्ण में से कोई भी जो आचरण करेगा वह नरनारी
 भव्यजन सुरगति पावेगा ।

बहुत प्रलाप करने से क्या जिससे तालू सूखे । इसी परमाक्षर को
 त्रिरकाल तक लेओ जिससे कर्मक्षय होवे ।

भव्यों के जो सुवचन है उनसे सुगति को जाता है । जिससे भववृत्ति
 को देखना पड़े ऐसे कथन को नहीं करना चाहिये ।

दोहा नं. २१४ के पश्चात् क. प्रति में—

इय दोहावद्धवयधम्मं देवसेनै उवदिट्ठु ।
 लहु अक्खरमत्ताहीयमीपय सयण कम्मंतु ॥

अनुवाद-इति देवसेन द्वारा उपदिष्ट दोहावद्ध व्रतधर्म । लघु अक्षर
 मात्रा से हानि जो पद हों उन्हें सज्जन क्षमा करें ।

शब्दकोश

इस कांष मे संज्ञायें विना विभक्ति के तथा क्रियाये यथाप्रयोग सम्मिलित की गई हैं और उनके संस्कृत रूपान्तर दिये गये है । जो संस्कृत शब्द हिन्दी मे उपयुक्त नहीं होते उनके हिन्दी रूपान्तर या समानार्थ शब्द दे दिये गये हैं । जो शब्द कईवार एक ही अर्थ में आया है उसका एक ही दोहा नंबर दिया गया है ।

निम्न लिखित संकेताक्षरों का प्रयोग किया गया है:—

गु. - गुजराती; पु - पुरुष; म. - मराठी; मार. - मारवाड़ी; हेम - हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण

अ

अइदित्त - अतिदीप्त, १७२.	अचेयण - अचेतन, २१८.
अइदुरुज्झिय - अतिदुरोज्झित, १७१.	अच्चइ - अर्चयति, पूजता है, १८५
अक्खमि - आख्यामि, कहता हूं, १.	अच्छुड - आस्ताम्, दूर रहे, ३०.
अक्खय - अक्षत, १८५.	अज्जु - अद्य, आज, ८८.
अक्खिय - आख्यात, १७८.	अज्जवसाय - अध्यवसाय, १२२.
अगाळिअ - अगालित, विनाछना, २७.	अट्ट - अष्ट, आठ, २०.
अगाह - अगाध, १८६.	अट्टम - अष्टम, आठवां, १५.
अमि - अमि, आमी, ३९.	अट्टमि - अष्टमी, १३.
	अणत्तोरिय - अ + तुवरित, ५६. (तुवरी - फिटकरी, म. तुरटी, alum.)

अणत्थ - अनर्थ, ४८.

अणाअ - अन्याय, १४४.

अणबोल्लिय - अनुक्त, बिना
बुलाया, ११५.

अणायतण - अनायतन, १०.

(कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र, तथा
इन तीनों के पूजने वाले ये
छह अनायतन कहल्लते हैं.)

अणिचारिय - अनिवारित, १२२.

अणुमइ - अनुमति, १६.

अणुराअ - अनुराग, २५.

अणुवय - अणुव्रत, ५९ (हिंसा,
चोरी, झूठ, कुशील और
परिग्रह इनका गृहस्थ के
सघने योग्य अणुरूप त्याग
को अणुव्रत कहते हैं.)

अणुसरहि - अनुसरन्ति, अनुस-
रण करते हैं, ११७.

अण्ण - अन्य, ३५.

अण्णाअ - अन्याय, १४५.

अण्णायपविसि - अन्याय+प्रवृत्ति
१४६.

अण्णुवइट्ट - अन्य+उपदिष्ट, २४.

अत्तागम - आप्त + आगम, देव
और शास्त्र, १९.

अत्थमिय - अस्तमित, सुखीस्त,
३७.

अप्पत्त - अपात्र, ७८.

अप्पणअ - आत्मनः, अपना, ८४.

अप्पणिय - आत्मीय, अपनी, १४६

अप्पत्थ - अपत्थ, ४१.

अप्पिय - अपित, ८४.

अभयदाण - अभयदान, १५६.

अमिअ - अमृत, २.

अमियघड - अमृत+घट, १६८.

अमियसरिस - अमृतसहस्र १७८

अयाण - अजानत्, अजान १५७.

अरहंत - अर्हंत, ४.

अलिय - अलीक, असत्य, ६१.

अलिय - अलि (भ्रमर), अलीक
(असत्य), १७३.

अवगणिण - अवगणय, गिनो, २०

अवर - अपर, और, ११९.

अवस् - अवशाम्, अवश्य, ३९.

अवसि - अवशाम्, अवश्य, ६०.

अविण - अविन, पार, १००.

अविरय - अविरत, प्रतरहित, ७९

असक्क - असक्त, १६८.

अ स्ति आ उ सा - अर्हत, सिद्ध,
आचार्य, उपाध्याय, साधु,
इन पंच परमेष्ठी का अल्पाक्षर
मंत्र, २१४.

असेस - अशेष, १६५.

असौअ - अशोक (वृक्ष), १७१.

अह - अथ, २६

अह व - अथ वा, ६

अहम्म - अधर्म, अधर्मी, १०३.

अहाणअ - आभाणक, अहाना, २४

अहिलसइ - अभिलषते, इच्छा
करता है, ४२.

अहिलसिअ अभिलषित, ३७

अहिलास - अभिलाष, ५१

अंजणगिरि - अंजनगिरि २९.

अंतरि - अन्तरे, अन्दर, २२.

अंधार - अंधकार, ६.

अंब - अ.प्र, आम, १६०.

आ

आउ - आयातु, आवे, ५८.

आउसंत - आयुस्+अन्त, ७३.

आमिस - आमिष, मास, २८.

आयरइ - आचरति, आचरण
करता है, ७६.

आयहं - एषाम्, इनके, २२.

आयास - आकाश, ५७.

आरत्तिअ - आरात्रिक, भारती,
१९५.

आराहण - आराधना, १९३.

(भगवती आराधना नाम
का ग्रंथविशेष)

आवइ - आयाति, आवे, ८८.

आवन्ना - आरूढ, बढ़ा, १४८.

आवंति - आयान्ती, आती, १४५.

आसागय - आशा+गत, दिशाग-
मन, ६६.

आसायअ - आस्वादित, २३.

आसि - आसीत्, १५६.

इ

इकछिदिय - एक+छिदित, १६१.

इक - एक, ४३.

इकसअ - एकशत, २१६.

इच्छिय - इष्ट, १९०.

इच्छियलद्धि - इष्ट+लद्धि, ७१.

इणि - अनेन, इस से, २०५.

इसिय - इयत्, इतना, १०७.

इत्थु - अत्र, इसमें, ७१.

इयर - इतर, अन्य, ३८.

इच्छिय - इच्छा, इच्छा करके, ६३.
 इन्दियगात्र - इन्द्रिय+ग्राम, १४०.
 इंधण - इन्धन, २१९.

उ

उक्किट्ट - उत्कृष्ट, ७४.
 उग्गमइ - उद्गच्छति, उदय हो,
 १०५.
 उग्घाडंत - उद्+घाटयत्, उघा-
 षने वाले, १३५.
 उज्जल - उज्वल, ११३.
 उज्जोइज्जइ - उद्+द्युज्यते, उज्जाला
 किया जाता है, १८४.
 उज्जोयइ - उद्+द्योतयति, उज्जाला
 करता है, १९६.
 उट्टइ - उत्तिष्ठति, उठता है, ३९.
 उट्टावइ - उत्थापयति, उठाता है,
 २१७.
 उट्टिय - उत्थित, उठा हुआ, १५३.
 उणाली - शाकविशेष, ३४.
 उण्णय - उन्नति, ११४.
 उत्तमपइ - उत्तमपदे, °पदपर,
 ११४.
 उत्तार - उत्तरण, उतार, १९२.

उत्तारंति - उत्तारयन्ती, उत्तारती
 हुई ८६.

उत्तिडअ - उत्तरीय, वन, १५१.

उद्दिट्ट - उद्दिष्ट, १६.

उप्पज्जइ - उत्पद्यते, उपजता है १७१

उप्परि - उपरि, ऊपर, १२६.

उप्पहिं - भात्मना, उपतकर ८४.

उप्पाडिअ - उत्पादित, उपाड़ा,
 ४०.

उप्पासइ - उद्+भासयति, उज्वल
 करता है १९६.

उप्पग्ग - उन्मार्ग, १४५.

उर - उरम्, उर, ६०

उल्हाविअ - आर्दित, आला
 (गीला) किया, ३९.

उवइट्ट - उपादिष्ट, १६.

उवणस - उपदेश, ६.

उवणसिय - उपदिष्ट ८.

उवयरइ - उपकरोति, उपकार
 करता है, ११९.

उवयारहिं - उपकारय, उपकार
 कराओ, ११९.

उववास - उपवास, १३.

उववासम्भास - उपवास+अभ्भास
 ११९.

उवसमइ उपसाम्भति, शांत हीता
है, १४२.

उवहि - उदधि, २०७.

उवाहिणीर - उदधि+नीर, ८९.

उवाहिवेल - उदधि+वेला, १९५.

उव्वरइ - उपकरोति, उवारता है,
या, उद्वर्तते, बचता है, १२१.

उहय - उभय, दोनो, १३.

उंदर - उंदुरु, मूषक, १५१.

ऊ

ऊसर - ऊषर, ऊसर (अनुपजाऊ)
८३.

ए

ए - एते, ये, १८.

एउ - एतत्, यह, २२४.

एऊ - एक, १०.

एसडध - एतावत्, इतने, ५३

एयवत्थ - एकवत्त, १७

एयारस - एकादश ग्यारह, १८.

एयारह - एकादश, ग्यारह, ९

एयारहम - एकादशम, ग्यारहवां
१६.

परिस - ईदश, ऐसी, १७५.

एवडु - एतावत्, इतनी १७९.

एवंविह - एवंविध, इस प्रकार,
१८०.

एह - एषा, यह, १७९.

एहु - एष, यह, २४.

ओ

ओसहदाण - औषधदान, १५७

ओहट्टइ - अपभ्रश्यते, दृष्टता है,
१४९.

क

कअ - कृत, किया, ८३.

कउ - का, क्या, ६८.

ककसवयण - कर्कश+वचन, १४४

कच्च - कांच, कांच, २.

कच्चासण - अपकाशन, कच्चा
भोजन, १४.

कज्ज - कार्य, २१.

कट्टिय - कृत, काटा गया, १५०.

कट्ट - काष्ठ, काठ, ३८.

कट्टडा - कट, ११४.

कडुंत - कर्त्तु, काढनेवाला, ९९.

कडिय - कूटा, काढा या खींचा,
१२१.

कणय - कनक, २११.
 कणिट्ट - कनिष्ठ, सबसे छोटा ७९.
 कण्ण - कर्ण, कान, ११८.
 कत्तारि - कर्तरी, कैची, १७.
 कइम - कर्म, कौच, १५३.
 कप्यड - कर्पट, कपड़ा, ५६.
 कप्ययर - कल्पतरु, ९७.
 कप्ययर - कल्पतरु, २१२.
 कम - क्रम, १२.
 कम्म - कर्म, १०९.
 कम्मक्खअ - कर्म+अय, २१०.
 कय - कृत १७.
 करइ - करोति, करता है, १८१.
 करउं - करोमि, कहं, ८८.
 करड - शाकविशेष, करडा, ३४.
 करहि - कुरु, कर, ४
 करहिं - कुर्वन्ति, करते है, ५५
 करालिय - करालित्, १८३
 करि - कुरु, कर, २२.
 करिणि - करिणी, हस्तिनी, १२३
 करेइ - कुर्यात्, करेगा, ६२.
 कलंतर - कला+अन्तर, एक भाग
 ११५.
 कलिंग - फलविशेष, कलींदा, ३४.

कह्याण - कल्याण, ८०.
 [तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, तप,
 ज्ञान और निर्वाण के उत्सव
 पंच कल्याण कहे जाते हैं ।]
 कह्लि - क्षः, कल, ८८.
 कवण - का, कौन, ४०.
 कवित्त - कवित्व, १४२.
 कवेडअ - कपट, ६२.
 कस - कश, ७.
 कसाय - कषाय, ६१.
 कह - कथा, ४०.
 कहिअ - कथित, ९.
 कहिवि - कथयितुम्, कहने, २०१.
 कहिं - कुत्र, कहीं, २१५.
 कंज - (तत्सम), कमल, १२५.
 कंजिय - कांजी, (Butter-
 milk,) १३३.
 कंटअ - कंटक, १४५.
 कंदि - स्कन्ध, शुक, सूखा, १५७.
 काअ - काय, शरीर, ११३.
 काई - किम्, क्या, ६२.
 काणण - कानन, वन, २३.
 कामकह - काम+कथा, ४५.
 कामिअ - कामिक, २१२.

कायउ - कापि, कोई भी, १८९.
 काराविय - कारित, करार्द, १९२.
 कारियइ - कार्यते, कराया जाता
 है, २४.
 कालसय - काल+त्रय, ५.
 कासु कस्य, किसे, १७८.
 कि - किन्, क्या, ६.
 किअ - कृत, किया, ३७.
 किन्ति - कीर्ति, १४२.
 किन्तिअ - कियन्, कितना, १८३.
 किन्तिअ - कियन्ता, कितनापन,
 ११०.
 किम - किम्, कैसे, ५६.
 किमि - किम्, कैसे, ६७.
 किय - कृत, किया, १५५.
 किलेस - क्लेश ४८
 किविण - कृपण, ८९.
 कीरइ - क्रियते, किया जाता है, २४.
 कुडिलिय - कुण्ड, ११२.
 कुडुंथ - कुटुम्ब, ४८.
 कुणहिं - कुर्वन्ति, करतीं, २११.
 कुपत्त - कुपात्र, ८१.
 कुभोध - कुभोग, ८१

कुभोयण - कुभोजन ९३.
 कुमुयाणंदिणि - कुमुदानन्दिनी,
 १९९.
 कुलयर - कुलकर, १६६.
 कुसियार - कोशकार, कुसियारा,
 (रेशम का कीड़ा) १४६.
 कुसुमंजलि - कुसुमाञ्जलि, १९१.
 कूड - कूट, ४९.
 कूडतुला - कूटतुला, कपटतराजू,
 १६२.
 कूवखणय - कूप+खनक, १०२.
 कूवय - कूप+क, कुभा, ९९.
 केम - किम्, कैसे, १३८
 केवलणाण - केवलज्ञान (सर्व-
 ज्ञता) ५.
 कोइ - कोऽपि, कोई, ६.
 कोवीण - कोपीन, १७.
 कोहमल - क्रोध+मल, १३१.

ख

खअ - क्षय, ६९.
 खडभुस - घास+बुष, घासभुसा,
 ९२.
 खडहड - शिल्प+घटा, चट्टानसमूह
 म. खडक-चट्टान, १५२.

खरहर - खादति, खाता है, ३२.
 खरहरं - खादितेन, खानेसे, ३६.
 खम - क्षम, योग्य, ७.
 खंचहि - कर्ष, खंच, १३०.
 खंडिय - खंडित, काटा, २१९.
 खंडिवि - खंडयित्वा, काटकर,
 १५२.
 खंधार - स्कंधावार, सेना, ५१.
 खाइ - खादति, खाय, २८.
 खाणि - खानि, ४८.
 खार - क्षार, खार, ८१.
 खारघड - क्षार+घट, खारा घड़ा,
 ८१.
 खिलिय - कालिका, खिली, १०६
 खीरसमुद्र - क्षीरसमुद्र, १६९.
 खुहर - खुल्यते, खुँटे, १०८.
 खुडिय - खुडित, खोंटे गये, १५२
 खोत्तिय - क्षेत्रिता, खेती, ६४.
 खेत्ती - क्षेत्रिता, खेती, ५५.
 खेरि - द्वेष, १७५.
 खेवइ - क्षिपति, खेता है, १८९.
 खोज - अन्वेषण, खोज, ८४.
 खोडय - खुडित, खोड़ा लगी,
 १४८.

ग

गअ - गत, गया, ६१.
 गच्छइ - गच्छति, जाता है, ४६.
 गङ्गायरअ - गर्तक, ५८.
 (a table for playing
 dice, Apte: Dic.)
 गणिय - गणयित्वा, गिनकर, २०५
 गमणट्टिय - गमन+स्थित, १९२.
 गय - गत, ३.
 गय - गज, १४७.
 गयण - गगन, १३२.
 गविणिट्ट - गवि+निष्ठा, इन्द्रिय+
 आसक्ति, १६४.
 गह - ग्रह, १९८.
 गहिय - गृहीत, १७७.
 गहिर - गभीर, गहिरा, २१४.
 गंधोअ - गंधोदक, १८४.
 गाइ - गौ, गाय, ९२.
 गाल - गल, मछली फकड़ने का
 कांटा, १२४.
 गालिअ - गालित, गाल या छाना
 हुआ, २६.
 गिण्हइ - गृण्हाति, गहता है, १६२.
 गिर - गिर्, गिरा, वाणी, १७८.

गिहत्थ - गृहस्थ, ८७.

गिबुअ - कंबुक, गेंद, १५३.

गिभ - ग्रीष्म, ६९.

गुणवय - गुणव्रत, ११ (दिशाओ व देश-प्रदेश में जाने का प्रमाण, तथा अनर्थ दण्ड का त्याग, ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं).

गुणवंत - गुणवत्. गुणवान, १४१.

गुलिय - गुलित, गुडीला (मीठा) १३३.

गुंजारिय - गुंजारित, गुंजार, २१५.

गेय - (तत्सय), गीत, १२७.

गेहोवरि - गेह+उपरि, १०२.

गोत्त - गोत, ४८.

गोवहि - गोपय, गोप या गुप्तरख, १२१.

घ

घडंति - घटायन्ते, घटयुक्त होते हैं, ९९.

घम्म - धर्म, धाम, १०३.

घयपय - घृत+पयस्, घी दूध, १८१.

घर - गृह, ८७.

घरयर - गृहकर, घर बनानेवाले, १०२.

घल्लइ - क्षिपति, घालता है, १६९.

घंट - घंटा, १९९

घाअ - घात, धाव, ६०.

घाणिदिय - घ्राणेन्द्रिय, १२५.

घाय - घात, ७.

घारइ - मूर्च्छयति, मूर्च्छित करनी है, ५०, म. घेरी मूर्च्छर्.

घिय - घृत, घी ३२.

घूयड - गुग्गुल, घुग्घू, १०५.

च

चइवि - व्यक्त्वा, चयकर या त्याग कर, ७३.

चउगइ - चतुर्गति, १३४.

चउत्थ - चतुर्थ, १३.

चउहसि - चतुर्दशी, १३.

चउरट्ट - चतुरष्ट, (बत्तीस), १२.

चउविह - चतुर्विध, १५८.

चउसट्ठि - चतुःषष्टि, चौसठ, १७६

चाक्कि - चक्रिन्, चक्रवर्ती, १७७.

चक्खइ - चक्षति, चक्षता है, १६०

चच्चइ - अर्चयति, पूजता है, १८४

चडप्फइहि - परिस्फुरति, लड़-फड़ता है, १८४.

चङ्गफाडवि - परिकुर्ष, तड-
फडाकर, १२४.

चढहिं - आरोहन्ति, चढते हैं,
१०२

चत्तारंभ - त्यक्त+आरम्भ, आर-
म्भत्यागी, १५.

चम्मच्छअ - चर्माच्छादित, ३२.

चम्मट्टिसुर - चर्म + अस्थि+सुरा,
३३.

चयारि - चत्वारि, चार, ११.

चरिअ - चरित, १३३.

चरित्त - चरित्र, २२४.

चलण - (तत्सम), चरण, १७३.

चलिय - चलित, ३५.

चल्लंत - चलत्, चलनेवाला, १४५.

चवहि - ब्रूहि, बोल (धातु-वच्)
६१.

चंडाल - चाण्डाल, १३१.

चंदकंति - चन्द्रकान्त (मणि),
१९७.

चंदण - चन्दन, १५०.

चंदोव - चन्द्रोपक, चंदेवा, १९८.

चाअ - त्याग, २५.

चाहहि - इच्छसि, चाहता है, १५९

चिराउस - चिरायुस्, चिरायु,
१५६.

चिहुर - चिकुर, केस, १७.

चिघ - चिह्न, ध्वज, २००.

चोअ - आधर्य, चौअ, २००.

चोरडा - चौर, चोर, ७५.

छ

छट्टय - षष्ठम, छटवां, १४.

छट्टिय - छर्दित, छोडा, ३९.

छणजामिणि - क्षण+यामिनी,
पूर्णिमा रात्रि, १९९.

छणससि - क्षण+शशि, पूर्णिमा
चन्द्र, १७७.

छस - छत्र, १७७.

छह - षट्, छह, २०

छंडहु - छर्दय, छोडो, १७५.

छंडि - छर्दय, छोड, ६७.

छंडिय - छर्दित, छोडा, २५.

छंडेइ - छर्दयेत्, छोडे, ९३.

छिअउ - क्षीयताम्, क्षय होवे,
१३५.

छित्त - स्पृष्ट, हुआ, १३१.

छुड - यदि, ५८.

छेय - छेद, ७.

ज

जइ - यदि, २५.

जग - जगत्, जग, १९४.

जणाणि - जननी, १६७.

जमभङ्ग - यम+भट, ८८.

जम्म - जन्म, ९३.

जम्मुच्छव - जन्मोत्सव, १६८.

जलहि - जलधि, ८५.

जस - यस्, यश, ४८.

जसु - यस्य, जिसका, ५.

जह - यथा, जैसे, २१.

जह्ण - जघन्य, ७४.

जहिं - यत्र, जहां, ५४.

जं - यत्, जो, ४.

जंति - यान्ति, जाते हैं, ८.

जंपिय - जल्पित, कथित, १०४.

जंबूदीप - जम्बूद्वीप, २०२.

जाअ - यात्, गया, ५८.

जाउ - यातु, जाय, २०५.

जाअंध - जात+अंध, २०९.

जाण - यान, १०२.

जाणहु - जानीहि, जानो, २०९.

जाणि - जानीहि, जानो, १५.

जाणिज्जइ - ज्ञायते, जाना जाता है,

२७.

जायइ - जायते, होता है, ६६.

जाहि - यासि, जाय, २०८.

जाअ - जीव, ५९.

जाणणाह - जिकसाध, १८६.

जाणतिस्थ - जिनतीर्थ, ११७.

जाणहर - जिनगृह, १९९.

जाणिद - जिनेन्द्र, १९०.

जाणसर - जिनेश्वर, १७२.

जित्त - जित, जीता, ५१.

जिब्भिविय - जिह्वेन्द्रिय, १२४.

जिम - यथा, जैसे, २.

जिय - जीव, ४.

जियगहियत्तण - जिह्वा+गृहीत+
तृण, ४६.

जियवह - जीव+वध, ६६.

जिह - यथा जैसे, ३.

जीवियलाहड - जीवित+लाभ,
११९.

जीहडी - जिह्वा, जीभ, १२९.

जुग - योग्य, ३१.

जुत्त - युक्त, ३०.

जूअ - द्यूत, जुंवा, ३८.

जूय - युग, जुंवा (Yoke), ३.

जे - ये जो, २०.

जेण - केन, जिसने, २.

जोष - बधा, बहै, १३४.

जोषिष्य - जोषित, जोषे हुए, ११४

जोषर्हि - परमन्ति, जोषते है, ११८

ञ

झञ्जहि - ध्याय, ध्य न कर, १०८

झुणि - ध्वनि, १०८.

ट

टालह - टालयति, भ्रम करता है,
१५१.

टिक - टीका, १९३.

ठ

ठंति - तिष्ठन्ति, ठहस्ते हैं, ५४,

ठाथ - स्नान, ठांव, १६९.

ठाइ - तिष्ठति, ठहरता है, १९७.

ठाण - स्थान, १८.

ठाहरह - तिष्ठति, ठहरता, १३२.

ठिअ - स्थित, १३२.

ठिय - स्थित, २१४.

ड

डज्जंता - दक्षिमान, डाते हुए, ५२.

डरहि - प्रस्यसि, डरता है, १५६.

डल - दल, पीतल आदि नीच
धनु, १३६.

डहर - दहति, डा वेता है, ५३.

डाल - साक्षा, डाल, ६१; ९५.

ड

डिल्ल - विधिल, डौला, १२९.

डुक्कह - डौक्यते, आवे,

६०; ११२; १८७.

ण

ण - न, १०.

ण - नु, ननु (निष्कार्यवामक
अव्यय) ८४, १३७, १४२,
१९२, १९६.

णहस्तारिण - नदी+सारण, १८६.

णञ्जह - नृत्यति, नाचता है, १६२.

णडपेखण - नट+प्रेक्षण, नट का
तमाशा, १६२.

णमकारेणिणु - नमस्कृत्य, वन्दन
करके, १.

णमिय - वमित, नवी हुई, ५५.

णय - नत्, २२३.

णवजाणंद्यरि - नयनानन्दका-
रिणी, १७९.

णर - नर, ४४.

णरसायण - नरत्व, २२०.

णरय - नरक, ४२.

णरयगह - नरकवति, १६१.

णवद् - नमति, नवता है, ११६.

णवम - नवम, नौवां, १५.

णं - ननु, २७.

णंद - नन्द, आनन्द, १३७.

णंदीसर - नन्दीश्वर (द्वीप)
२०२.

णाअ - न्याय, ११३.

णाइक - नायक, ५१.

णाण - ज्ञान, ५.

णाणुग्गम - ज्ञानोद्गम, १७०.

णाय - नाय, १७७.

णायकुमार - नागकुमार, पु,
१११.

णायदत्त - नागदत्त, पु, १११.

णारि - नारी, १४.

णाव - नौ, नाव, १५४.

णाविय - नाविक, १५४.

णास - नाश, १८७

णासइ - नाशयति, नाश करता है,
२३.

णासंति - नश्यन्ति, भाग जाते हैं,
७५.

णासंति - नश्यन्ति, नष्ट होते हैं,
१३८.

णा हि - न हि, १४.

णाही - न हि, म. नाही, ११०.

णिक्कमण - निष्कमण, १६९.

णिग्गय - निर्गत, २००.

णिच्चल - निश्चल, ५८.

णिच्छाअ - निश्छाय, निष्प्रभ,
१४०.

णिट्ट - निष्ठा, ५५.

णिट्टडी - निष्ठा, ११५.

णिद्धण - निर्धन, ११४.

णिप्फल - निष्फल, ५५.

णिम्मल - निर्मल, ११.

णिय - निज, २१८.

णियर - निकर, समूह, १९४.

णियल - निगड, शंखला, २११.

णियलंकुस - निगड+अंकुश,
१२३.

णियसात्ति - निजशक्ति, १२१.

णिरग्गल - निरर्गल, १३५.

णिरत्थ - निरर्थ, ११९.

णिरारिउ - निश्चयेन, ४६.

णिलज्ज - निर्लज्ज, १५९.

णिवडइ - निपतति, गिरिगी, १५४.

णिवडंति - निपतन्ति, गिरते हैं,
१७३.

णिवडिय - निपतित, ८१.

णिवसद् - निवसति, वसता है,
५४.

णिवारहि - निवारय, निवार,
१२६.

णिवास - निवास, १४३.

णिविद् - निविष्ट, बैठा, ६१.

णिविस्ति - निवृत्ति, १०.

णिव्याण - निर्वाण, ५९.

णिव्वाह - निर्वाह, १४९

णिसेणि - नि श्रेणी, नसेनी, ५०.

णिहाण - निधान, ८०.

णित - नयत्, ले जाता हुआ, ८५.

णिति - नयन्ति, ले जाते हैं, ५९.

णिदिश - निन्दित, २१८.

णीर - नीर, पानी, २६.

णीरुक्ख - निर्वृक्ष, ७७.

णेह - ज्ञेह, १५१.

णेवज्ज - नैवेद्य. १८७.

ण्हवणाइय - झपनादिक, २०४.

ण्हविज्जइ - झाप्यते, नहलाया
जाता है, १८१.

ण्हाण - ज्ञान, १३१.

ण्हावइ - झापयति, नहलाता है,
१८१.

ण्हाविज्जइ - झाप्यते, नहलाया
जाता है, १६८.

ण्हाविय - झापित, नहलाया गया,
१६८.

ण्हाविय - स्नापयित्वा, नहलाकर,
१८२.

त

तउ - तपस्, तप, ७.

तउमंडय - तपोमंडित, ३१.

तग्गंधिय - तद् + ग्रन्धि, गांठ,
२२०.

तच्छ्वाइय - तत्त्व+आदिक, १८.

तडत्ति - तद् इति शब्देन, तद् से,
१००.

तणइ - (सम्बन्ध सूचक), २०५.

तणु - तनु, शरीर, १०७.

तमहरणि - तमोहारिणी, १९९.

तमिण - तमसा, तम से, २.

तरइ - तरति, तरता है, १३४.

तरिहहि - तरिष्यसि, तरेगा, ६७.

तरंड - (तत्सम), डोंगी, १९२

तलाअ - तलाग, तलाव, १७०.

तवयरण - तपश्चरण, ७३.

तस - त्रस (जंगम जीव), २२.



सम्बन्धम्यदोहा

तसु - तस्य, तिसके, ३२.
 तस्या - तस्मात्, तिससे, १०१.
 तर्हि - तत्र, तहां, ५४.
 तं - तत्, तिसे, १९.
 तंभोलोसह - तम्बूल+भौमध, ३७
 ता - तर्हि, तो, ३९.
 तां - तानि, ते, ५९
 ताडिथ - ताडित, १५३.
 तामच्छुड - तावत् आस्ताम्, तो
 रहे, ३१.
 तारइ - तारयति, तारता है, ८४.
 तारायण - तारामण, १९८.
 ताळ - इक्षुविक्षेप, १०३.
 तासु - तस्य, ५.
 ताहं - तेषाम्, तिनके, ३०.
 तिज्जथ - तृतीय, तीजा, १२.
 तिडिक - स्फुल्लिग, तिल्ला, २३.
 तिण्णि - त्रीणि, तीन, २०.
 तिन्धु - तत्र, तहां, ११९.
 तित्थंकर - तीर्थंकर, १६६.
 तिरिय - तिर्यक्, पशु, १७५.
 तिलय - तिलक, १९७.
 तिह - तैल, तेक, ३२.
 तिष्वकासाय - तीर्थकसाय, १६१.

तिह - तथा, तैले, ३.
 तिहिंमि - त्रिषु अपि, तीनों में, १२
 तिहिं - त्रिभ्याम्, तीन से, ७४.
 तुइ - त्रुटित, टूटे, १५२.
 तुइइ - कुव्यति, द्रवता है, ४४.
 तुइइ - कुव्यति, किमद् जाता है,
 १३३.
 तुलाइय - तुल्य+आदिक, ४९.
 तुंवड - तुम्बोफल, तुंवा, ३४.
 तोडइ - त्रोटयति, तोड़ती है, २१३.
 तोडहुं - त्रोटयितुम्, तोड़ने को,
 ६४.
 तोस - तोष, २१८.
 तोसिथ - तोषित, २२०.
 थ
 थकरं - तिष्ठन्ति, ठहरते हैं, ५३.
 थलदुक्ख - स्थल+दुख, १०४.
 थाम - स्थामन्, बल, १८३.
 थिप्यंति - तृप्यन्ति, तृप्त होते हैं,
 या विगलन्ति, १७ (हेम. ४,
 १३८; १७५)
 थिर - स्थिर, २०८.
 थोडउ वि - स्तोकमपि, थोड़ा
 भी, २३.
 थोडिथ - स्तोका, थोड़ी, १३३.
 थोबइ - स्तोका, थोड़ा, ९०.

द

- दट्ट - दट्ट, दशा हुआ, ६३.
 दम्भ - दम्भ, एक शिक्षा, ११५.
 दय - दया, ४०.
 दसम - दसम, दसवां, १६.
 दहिमहि - दधि + मथित, दही मही, ३५.
 दंसण - दर्शन (सम्यग्दर्शन, धर्म-अज्ञा), २०.
 दंसणसुद्धि - दर्शन+शुद्धि, ३२.
 दाण्य - दान, ७०.
 दाणञ्चण - दान+अर्चन, ११७.
 दाणंघिव - दान+अंग्रिप, दानरक्ष, ८२.
 दायार - दातृ, दाता, ८५.
 वारिय - वारिका, लैंडी, ४५.
 दालिह - दारिद्र्य, १८७.
 दालिहड - दारिद्र्य, ९३.
 दालिहिय - दारिद्र्य, दारिद्र्य, १४८.
 दावाणल - दावानल, २३४.
 दिज्जइ - दीयताम्, देना चाहिये, ७०.
 दिट्ट - दृष्ट, देखी गई, ५५.

- दिट्ठि - दृष्टि, ६३.
 दिट्ठिविस्स - दृष्टिविषय (सर्व-विशेष), ६३.
 दिणयरसअ - दिनकर+शत, सौ सूर्य, १०५.
 दिणोस - दिनेस, सूर्य, ६९.
 दिण्ण - दत्त, दिया हुआ, ८३.
 दिण्णइ - दीयते, दिया जाय, ८१.
 दिट्ठि - दधति, दैते हैं, १९०.
 दिवि - (तत्सम) स्वर्ग में, १११.
 दिव्वंवर - दिव्य+अम्बर, २०३.
 विस - दिक्षा, ६६.
 दीव - दीप, १८८.
 दीवड - दीपक, ६.
 दीसइ - दृश्यते, देखी जाती है, ८५.
 दुक्कर - दुष्कर, ६४.
 दुक्किय - दुष्कृत, १३.
 दुग्गा - दुर्ग, दुर्गम, १४८.
 दुज्जण - दुर्जन, २.
 दुग्गभरण - दुग्ग+भरण, ६७.
 दुग्गिसयइ - द्वि+शत, दो सौ, ११२.
 दुक्कर - दुस्तर, २११.
 दुक्करतरणि - दुस्तर+तारिणी, १३३.

दुख - दुःख, ६५.
 दुम्बल - दुर्बल, १३५.
 दुरिअ - दुरित, पाप, १८७.
 दुल्लह दुर्लभ, ३.
 दुविह - द्विविध, १६.
 दुल्लयण - दुर्बचन, ८८.
 दुह - दुःख, १२३.
 दुहकम्म - दुष्कर्म, १.
 दुंदुहि - दुंदुभि, १७५.
 दूरि - दूरम्, दूर, २२.
 दूरिदलिय - दुर्दलित, १
 दूरीकय - दूरीकृत, १५८.
 दूसइ - दूषयति, दूषित करता है,
 १३३.
 दूसिज्जइ - दूषयते, दूषित होती,
 २०७.
 देइ - ददाति, देता है, १६.
 देउ - देवः, ५३.
 देउल - देवालय, म. देवल, १०६.
 देखेवअ - दृश्य, देखना, ३९
 दो - द्वि, दो, २८.
 दोस - दोष, १९.
 दोसडा - दोष, ८६

ध

धण - धन, ३८.
 धणकण - धान्य+कनक, धन-
 धान्य, ९३.
 धणचाअ - धनस्त्राग, २०५
 धणिय - धनिक, ४४.
 धण्ण - धान्य, ६४.
 धण्ण - धन्य ११८.
 धत्तूरिय - धत्तूरिक, धत्तूरा पीने-
 वाला, १३६.
 धम्मक्खर - धर्म+अक्षर, ११८.
 धम्मधेणु - धर्म+धेनु, २२२.
 धम्मंघ्रिव - धर्म+अंघ्रिप (वृक्ष),
 ४०.
 धम्मायत्त - धर्मायत, ४.
 धरणहं - धरणाय, धरा या रोक
 जाना, १३९
 धरणिद - धरणेन्द्र, ७२.
 धवलण - धवलत्व, १९४.
 धवलावइ - धवलायते, धवल
 कराता है, १९४.
 धीवर - (तत्सम्) डामर, २७.
 धुणियरय - धुतरजस्, मैल दूर
 करके. ७४.

धूम - धूम, धुंवा, १९.

धूव - धूप, १८९.

प

पइठावइ - प्रतिष्ठापयति, प्रतिष्ठा
कराता है, १९५.

पइण्णइ - प्रदीयते, दिया जाता है,
९२.

पइसंत - प्रविशत्, प्रवेश करता
हुआ, ४४.

पइं - दुभ्यम्, तुझको, ११२.

पइं - त्वया, तूने, १५५.

पउम - पद्म, कमल, १८.

पउमिणि - पद्मिनी, २०३.

पउर - प्रवर (उत्तम), या,
प्रचुर (बहुत), ९४.

पएस - प्रदेश, ५४.

पकासण - पकाशन, ३१.

पक्खसउ - प्रत्यक्षम्, ३३.

पच्छूस - प्रत्यूष, प्रातःकाल,
१४०.

पट्टोलय - पट्ट+उल्लोच, कपड़ेका
छत, २२०.

पडंति - पतन्ति, पड़ते हैं, ५७.

पडिअ - पतित, ६७.

पडिकूल - प्रतिकूल, १०४.

पडिबइ - प्रतिबद्ध, बांध लिया,
१८९.

पडिम - प्रतिमा, १९२.

पढम - प्रथम, १०.

पडिय - पक्ति, २२२.

पणास - प्रणास, ५४.

पणासइ - प्रणासयति, नष्ट करती
है, १८३.

पस - पात्र, ३१.

पस - पत्र, पता, ४५.

पस - प्राप्त, ८४.

पत्तामरसंघाअ - प्राप्त+अमर+
संघात, देवी का समूह-आन्धा,
१७०.

पत्तुत्तम - पत्रोत्तम, १७१.

पमणिअ - प्रमणीत, कहा गया,
७९.

पमणिज्जइ - प्रभवते, कहा जाय,
८७.

पमाअ - प्रमाद, ६१.

पमाण - प्रमाण, ५.

पमुह - प्रमुह, ४७.

पव - पद्, १८३.

पव - पद, किरण, १९६.

पर्यच्छइ - प्रयच्छति, देती है, ९२.

पर्यडक्खर - प्रकट प्राकृत वा +
अक्षर १.

पर्यपोम - पद+पद्म, २२३.

पर्यबंध - पद+बन्ध, २११.

पर्यंगडा - पतंग, १२६.

पर्यास - प्रयास, ९७.

पर्यासिअ - प्रकाशित, २.

परणिग्घिण - पर + निर्घृण, बड़ा
निर्दयी, ४६.

परतिय - परस्त्री, ५०.

परस्त - पर+आत्म, दूसरों की
आत्मा, १०६.

परद्व - परद्वय, ६२.

परमहिल - पर+महिला (स्त्री)/६३.

परमाण - प्रमाण, ६६

परयार - पर+दारा, ५१.

पराई - परकीया, पराई, १२९.

परायअ - परकीय, पराया, १५१

परिग्गह - परिग्रह, १५.

परिचत्त - परित्यक्त, ४५.

परिचत्तिय - परित्यक्त, ४५.

परिणचइ - परिणमति, परिणमता
है, ९१.

परिपालंत - परिपालयत्, पालने
वाला, ९.

परियण - परिजन, १२०.

परिहरइ - परिहरति, परिहार
करता है, ७७.

परिहरहि - परिहर, परिहार कर,
२२.

परिहरि - परिहर, परिहार कर, २०

परिहरिय - परिहृत, २४.

परिहोइ - परिभवति, होता है,
१००.

परोहण - प्रवहण, नौका, १३४.

पलोट्टइ - प्रलोटयति, पल्यता,
१०६.

पवाण - प्रमाण, २७.

पविस्ति - प्रवृत्ति, १४.

पवेश - प्रवेश, ४१.

पव्वदिण - पर्वदिन, ६९

पसत्थ - प्रशस्त, ११७.

पसर - प्रसर, पसार, १४०.

पसरइ - प्रसरति, पसरता है, १८९

पसरंत - प्रसरत्, पसरता हुआ,
१८२.

पसिद्ध - प्रसिद्ध, १०१.

पसु - पशु, ६४.

पसुमार - पशुमार, ६७.

पसूह - प्रसूति, १८५.

पहतेब - प्रमा+तेज', १६७.

पहाण - प्रधान, २७.

पहिल - प्रथम, पहला, १७.

पंखि - पक्षिन्, ८७.

पंचगुरु - अर्हत्, सिद्ध, आचार्य,
उपाध्याय और साधु, ये पंचगुरु
या पंचपरमेष्ठी कहलाते हैं, १.

पंचाणुन्वय - पंच+अणुव्रत, ११.
(गृहस्थों के पालने योग्य
अहिंसा, अचौर्य, सत्य,
ब्रह्मचर्य व परिग्रहप्रमण).

पंचुंबर - पंच+उदुम्बर, १० (वट,
पीपल, पाकर, ऊमर और
कटूमर)

पंडिय - पाण्डित्य, १५९.

पंडुर - पाण्डुर, श्वेत, १७७.

पाअ - पाद, पांव, १४५.

पाअ - पाप, २०७.

पाण - प्राण, ५०.

पाणिअ - पानीय, पानी, ८९.

पाणिय - पानीय, पानी, १८.

पाय - पाद, पांव, ११७.

पायड - प्रकट, ६.

पायपसारण - पाद+प्रसारण,
पांव पसारना, १४९.

पारखि - पापार्द्धि, क्षिप्र, ४७.

पारखिअ - पापार्द्धिक, पारधी, ४६.

पारोह - प्ररोह, २००.

पालिअ - पालित, ६६.

पाव - पाप, १०१.

पावइ - प्राप्नोति, पाता है, १८१.

पावमइ - पाप्मति, १०६.

पावहरि - पापहारिणी, १९९.

पाविय - पापिन्, पापी, १६५.

पावियइ - प्राप्यते, पाया जाता है,
९२.

पास - पाश, खेलने के पांसे, ६८.

पास - पाश, बन्धन, २१३.

पासट्टिय - पार्श्वस्थित, १७६.

पिच्छइ - प्रेक्षते, देखती है, १६७.

पिड - पिण्ड, ८.

पिय - पीत, पिया, २७.

पियइ - पिबति, पीता है, २६.

पिसुण - पिशुन, १५१.

पिसुणत्तण - पिशुनत्त्व, १४४.

पिसुणमइ - पिशुनमति, १५०.

पिच्छइ - परिच्छिनति, पहिचानता
है, ६.

पीय - पीत, पिया, ३२.
 पुग्गल - पुद्गल, शरीर, २०५.
 पुच्छिञ्जइ - पृच्छयते, पूछा जाय,
 १२८.
 पुच्छिय - पृष्ठ, १६.
 पुज्ज - पूजा, १५९.
 पुट्ठि - पृष्ठ, पीठ, ९३.
 पुट्ठिमंस - पृष्ठमांस, ४१.
 पुणु - पुनः ९.
 पुण्ण - पुण्य, २३.
 पुण्णरासि - पुण्यराशि, २०७.
 पुत्त - पुत्र, १२०.
 पुरिस - पुरुष, १४२.
 पुव्व - पूर्व, पहले, १५४.
 पुव्वाइरिय - पूर्वाचार्य, १२.
 पुंढरिय - पुण्डरीक, छत्र, १७७.
 पूजाइय - पूजादिक, २१०.
 पूरहिं - पूरयन्ति, पूरा करते हैं,
 ९७.
 पेक्खइ - पश्य, देखो, ५२.
 पेक्खिअ - पश्य, देखो. १३४.
 पेरिअ - प्रेरित, २१९.
 पेस्सिअ - प्रेषित, २०३
 पेसिय - प्रेषित ६२.

पोह - उदर, पेट, म, घोट, १०६.
 पोहलि - पोटालिक, घोटली, १०९.
 पोत्थय - पुस्तक, पोथी, १५९.
 पोरिस - पौरुष, १४२.
 पोसिय - पोषित, ६५.

फ

फरसिंदिय - स्पर्शेन्द्रिय, १२३.
 फलइ - फलति, फलता है, ७०.
 फलिहसंकास - स्फटिकसदृश,
 २१३.
 फाटइ - स्फुटति, फटता है, १४९
 फुट्टिवि - स्फुटित्वा, फूटकर, १००
 फुल्लिय - पुष्पित, फूलाहुआ, ३५.
 फूलत्थाण - पुष्पस्थान, ३४.
 फोडिअ - स्फोटित, फोड़ा, २२०.

ब

बद्धइण - बद्धेन, बांधने से ६०.
 बबूल - बर्जुर, बबूल(वृक्ष विशेष ९४)
 बलइडा - बलीवर्द बेल, ११०.
 बलिय - बलीयस् बली, १४७.
 बाहिणि - भगिनी, बहिन, ४२.
 बहुत्त - बहु, बहुत, २३.
 बहुमेय - बहुभेद, ८२.

बहुय - बहु+क, बहुत, ४८.
 बहुवेस - बहुवेष, १६२.
 बंधन - बांधन, ४४.
 बंधन - बन्धन, ६४.
 बंधि - बधान, बांध, २०८.
 बंधन - ब्राह्मण, ७६.
 बंधयारि - ब्रह्मचारिन्, १५.
 बारह - द्वादश, बारह, ५९.
 बाहिरउ - बहिर, बाहिर, ५७.
 बिणिसयह - द्विशत, दो सौ,
 २१६.
 बिदिअ - द्वितीय, १७.
 बिहिं - द्वाभ्याम्, दो से, ७४.
 बीअ - बीज, ७०.
 बीय - बीज, ४७.
 बीयअ - द्वितीय, गुज. बीओ, ११.
 बुझिअ - बुझा, बूझकर, ७८.
 बोरि - बदरीफल. बोर या बेर, ११०.
 बोलि - ब्रूहि, कह, ८८.
 बोलिअइ - उच्यते, बोला जाता
 है, या ब्रुच्यते, डुवाया जाता
 है, ८६.
 बोहि - बोधि, ज्ञान, २१०.

भ

भक्ख - भक्षण, १२४.

भक्खण - भक्षण, १४.
 भक्खिअ - भक्ति, ४०.
 भग्ग - भग्न, भगा हुआ, ४६.
 भज्जइ - भज्यते, भग्न होता है, १४५.
 भज्जंति - भज्यन्ते, भग्न होते हैं, ७५.
 भणिअ - भणित, कहा गया, १३.
 भणु - भण, कहो, ५५.
 भणेइ - भणेत, कहे, १३६.
 भस्ति - भक्ति, १५८.
 भस्तिभर - भक्ति+भर, ११६.
 भरइ - भरति, भरता है, १०३.
 भरिअ - भृत, भरा, ८९.
 भल - भद्र, भला, ६५.
 भल्लिम - भद्रिमन्, भलाई, १४१.
 भवाई - (?) छाया इति टिप्पणम्,
 ७७.
 भविय - भव्य, ३३.
 भव्युच्छाहणि - भव्योत्साहिनी,
 ११९.
 भसल - भ्रमर, १७०.
 भंति - भ्रान्ति, ६८.
 भंतिक - भ्रान्तिक, भ्रान्तिवाल,
 १३१.
 भाइय - भावित, २१३.
 भारिअ - भारित, भारी, १०९.

भासिय - भाषित, २८.
 मिट्टडी - साक्षात्कार, भेंट, ९४.
 भिस - बिस, बिस (कमलनाल)
 ३४.
 मुक्खिय - बुभुक्षित, भूखा, १०३.
 भुवणत्तय - भुवन+त्रय, १०८.
 भुंजइ - भुंक्ते, भोजन करता है,
 १६.
 भुंजाइवि - भोजयित्वा, भोगवा कर,
 ५९.
 भुंजिज्जइ - भुञ्जीत, भोजन करे,
 ३५
 भुंजिवि - भुक्त्वा, भोगकर, ७३.
 भूरि - (तत्सम) बहुत, २२.
 भेरि - भेरी, १७५.
 भोग - भोग, १८६.
 भोग्गासण - भोज्य+अशन, भोजन
 ३७.
 भोग - भोग, ८२.
 भोगण - भोजन, ३०.
 भोगणिवंध - भोग + निबन्ध,
 २०९.
 भोगधर - भोगधरा, भोगभूमि,
 १९०.

भोग्गावाणि - भोग + अवनि, भोग-
 भूमि, ९६.

म

म - मा, मत, १७५.
 मइ - मति, १०.
 मइलिज्जइ - मलिनीक्रियते, मैत्र
 होता है, २९.
 मइलेइ - मलिनायते, मैत्र होता
 है, ३६.
 मउडंकिय - मुकुटांकित, १७४.
 मउण - मौन, १४३.
 मउयत्तण - मृदुत्व, १३२.
 मउलिय - मुकुलित, १७०.
 मग्ग - मार्ग, ८.
 मग्गइ - मार्गयति, मांगता है, ४९.
 मग्गि - मार्गय, मांग, २१०.
 मच्छ - मत्स्य, मच्छ, १२४.
 मज्ज - मय, २२.
 मज्जाभिसरय - मय + आभिष
 + रत, २९.
 मज्झिम - मध्यम, ७९.
 मडिह - माढि, मट्टापन, १३०.
 मण - मनस्, मन, १४.

मणगच्छ - मनाग् + अच्छ, कुछ
अच्छा; वा, मण + गच्छ,
मत जा, १२७.

मण्णमि - मन्ये, मानता हूं, ११८.

मण्णि - मन, मान, (घातु-न्ना),
११.

मण्णिय - मानित, २४.

मणुय - मनुज, ११४.

मणुयगइ - मनुज + गति, १६३.

मणुयत्तण - मनुजत्व, ३.

मणोरह - मनोरथ, १९०.

मय - मद, २०.

मयण - मदन,मैन (bee's wax),
६७.

मरइ - म्रियते, मरता है, १४६.

मरगअ - मरकत, २.

मरंत - म्रियमाण, मरता हुआ, ७१

महइ - महति, पूजता है, १८०.

महंत - महत्, २३.

महारयण - महारत्न, २०८.

महु - मधु, २२.

महुर - मधुर, १४२.

मंजर - मार्जार, बिल्ली, ४७.

मंजिट्टु - मंजिष्ठा, मंजीठा, ५६.

मंड - मण्डित, १७९.

मंडिय - मण्डित, मांडना, २०१.

मंत - मंत्र, २१५.

मंति - मंत्रिन्, मांत्रिक, २१७.

मंदकसाय - मन्द+कषाय, १६३.

मंस - मांस, २२.

माइ - माति, माता, ११०.

माइण्णिअ - माईफल + निम्ब
(वृक्षविशेष) १६०.

माण - मान, ६३.

माणाइय - मान+आदिक, १६२.

माणुत्त - मनुष्य, ५४.

माणुत्तजम्म - मनुष्यजन्म, ९.

मारइ - मारयति, मारता है, ६३.

माहउत्तरण - माधवक्षरण (बसं-
तानुगामी व विष्णुभक्त),
१७३.

मि - अपि, भी, ५९.

मिच्छत्त - मिथ्यात्व, १३६.

मिच्छादिट्ठि - मिथ्यादृष्टि, ८२.

मिच्छाभाअ - मिथ्याभाव, १४४.

मित्त - मित्र, ४४.

मिलिअ - मिलित, मिळा, १९४.

मिल्लहि - मुख, छोड़, १४४.

मिल्लि - मुख, भेळ या छोड़ १३४.

मिस्स - मिष, १७५.

- मीसिअ - मिश्रित, ३६.
 मुअ - मृत, मुआ या मरा, १२४.
 मुइवि - मुक्त्वा, छोड़कर, ३७.
 मुक - मुक्त, १५.
 मुक्ख - मुख, १०६.
 मुब्बइ - मुच्यते, मुक्त होता है, ४४.
 मुणि - मन, स्तुतिकर (धातु -
 त्रा, या मुण्) १०८.
 मुणिय - मुणित, हात कथित वा,
 (धातु-मुण प्रतिज्ञाने) ५.
 मुणिद - मुनीन्द्र, ७९.
 मुणेइ - मन्येत, माने, १३६.
 मुत्तिअ - मौक्तिक, मोती, ९१.
 मुललिअ - मूलित, मूल्युक्त, ३५.
 मुह - मुख, मुंह, ११८.
 मुहु - मुहु, बार बार ४२.
 महुत्त - मुहूर्त, २८.
 मूढा - मूढता, २०.
 मेहि - मुक्त्वा, छोड़कर, १३०.
 मेह्लिवि - मुत्त्वा, मेलकर या
 छोड़कर, १३७.
 मोकलिय - मुक्त, ६६.
 मोक्ख - मोक्ष, ७४.
 मोडइ - मुच्येत, मोड़े, १३०,
- मोसिय - मौक्तिक, मोती, ११०.
 मोहिय - मोहित, १३६.
 र
 रइ - रति, १२६.
 रक्खइ - रक्ष, रखाओ, १२५.
 रक्खिज्जइ - रक्ष्यते, रखाया जाय,
 ९८.
 रज्ज - राज्य, २००.
 रडइ रटति, रटती है, १७५.
 रय - रजः, रज, १८३.
 रयइ - रचयति, रचता है, १५१.
 रवण्ण - रमणीय, ९१.
 रसंति - रसन्ती, बजती हुई, १९९.
 रहंति - रक्ष्यन्ते, रहते हैं, १३८.
 रहिअ - रहित, ५.
 रंध - रन्ध्र, छिद्र, ३.
 राइय - राजित, १७१.
 रामण - रावण, पु., ६३.
 रिसि - ऋषि, ५३.
 रुक्खडा - वृक्ष, रुख, १९०.
 रुज्जइ - रुच्यते, रोका जाता है,
 १४०.
 रहिरामिस - इधिर+आमिष, ३३.
 रुव - रूप, १२६.

- रुधासक्त - रुधासक्त, १२६.
 रेड - राजते, विराजता, है, १७४.
 रेहड - राजते, विराजता है, ११६.
 रोस - रोष, २१८.
 रोहिणि - रोहिणी (उपवास विशेष)
 १८८.

ल

- लकडिय - लकड़ी, लकड़ी, १४८.
 लकख - लक्षा, लाख, ६७
 लग्गा - लग्न, लगा, ३८.
 लग्गाह - लगति, लगता है, ४४.
 लच्छि - लक्ष्मी, १८७.
 लच्छिम - लक्ष्मी, १४३, १९१.
 लद्धि - लब्धि, लाभ, ४७.
 लब्धह - लभ्यते, लाभ होता है, ७१.
 लब्धति - लभन्ते, पाते हैं, २०३.
 लहति - लभन्ते, पाते हैं, ९६.
 लहिवि - लब्धा, लेकर, ८०.
 लहु - लघु, २०७.
 लंपड - लम्पट, १२५.
 लाल - लाल, लार, १४६.
 लालि - लाल्य, लाड़ कर, १२३.
 लालिअ - लालित, १२३.
 लाह - लाभ, १६३.

- लिच - लिप्त, ३१.
 लिहाविष - लेखित, लिखाया,
 २०२.
 लिहिय - लिखित, २०१.
 लिहिवि - लिखित्वा, लिखकर,
 ४२.
 लुग्गा - भ्रम, जीर्ण, मार. लुगा,
 १४९.

- लेह - लाति, लेता है, ९०.
 लेहु - लाहि, लेओ (करो) ११९.
 लोह - लोके, लोक में, ११५.
 लोणि - नवनीत, भक्खन, २८,
 म. लोनी.

- लोय - लोक, २०२.
 लोयण - लेखन, ११८.
 लोयणि - लवनी, लुबनी वा
 (उस्तार !) १७.

- लोह - (तत्सम), लोहा, ६७.
 लोह - लोभ, १३४.
 लोहकजि - लोह+कज्यं, लोहे के
 लिभे, २२१.

- लहसुण - लहसुन, लहसुन, ३४.

व

- वइसाअर - वैधानर, अग्नि, २३.

- वग्घ - व्याघ्र, ८.
 वञ्चति - व्रजन्ति, जाते हैं, १४७.
 वज्जिय - वज्रित, १५.
 वड - वट (वृक्ष), ९०.
 वड - मूर्ख, १२५.
 वणयर - वनचर, ८.
 वणसइ - वनश्री, १७९.
 वणिज्ज - वाणिज्य, ४९.
 वण्णाइ - वर्णयति, वर्णन करता है,
 ७२.
 वत्थ - वत्स, २०३.
 वय - वचस्, वचन, १४.
 वय - व्रत, ३८.
 वयण - वचन, ५.
 वयणकुस - वचन+अंकुश, १३०.
 वयणिट्ठ - व्रत+निष्ठा, ५६.
 वयणियर - व्रत+निकर, १३९.
 वयदंसण - व्रत+दर्शन, ८३.
 वयपासा - व्रत+पाश, °पांसे, ५८
 वयभायण - व्रत+भाजन, ११६.
 वयरुक्ख - व्रत+वृक्ष, °ल्ल ५७.
 वरपअ - वर+पद या पय (वृष)
 २२२.
 वराडिअ - वराटिका, कौड़ी, २०९
 वरिड्ड - वृष्ट, वरसा, ६८.
 वलंत - ज्वलन्, जलते हुए, १२१.
 वलिय - वलित, आठें दिया हुआ,
 ६४.
 वल्लह - वल्लभ, १७८.
 वविय - उत्त, बोये, ९४.
 वस - वस, १४२.
 वसण - व्यसन, १०.
 वसणणिवह - व्यसन + निवह,
 १४४.
 वसणासत्त - व्यसनासक्त, ५२.
 वसाइ - वासयति, वसाता है, १९४
 वसि - वशे, वश में १२५.
 वसिय - उषित, वासा, ३५.
 वसुराअ - वसुराज, पु. ६१.
 वहंति - वहन्ति, वहते हैं, १०२.
 वंछिअ - वाञ्छित, १८०.
 वंछिज्जइ - वाञ्छयते, चाहा जाता
 है, २१२.
 वंदिअ - धेन्वित, २१८.
 वंस - वंश, १८५.
 वाअ - वात, १४७.
 वाइय - वापित, बोबाया, १६०.
 वार - द्वार, १३५.

वारिय - वारित, ४१.
 वारियहि - वारयसि, निवारणा,
 १५५.
 वाविय - वापित, बोवाया, ७०.
 वासर - (तत्सम), दिन, २.
 वाहि - व्याधि, ४१.
 वाहुडइ - व्यापृणोति, वापरता है,
 १६३.
 वि - अपि, भी, १०.
 विउल - विपुल, १३७.
 विकइ - विक्रीणाति, बेचता है,
 २०९.
 विग्गासिय - विकसित, २१२.
 विग्र - विघ्न, १००.
 विचिन्त - विचित्र, १७२.
 विच्छाअ - विछाय, निष्प्रभ, १२५
 विज्जावच्च - वैयावृत्य, (मुनिसेवा),
 १३९.
 विढप्पइ - विवर्धते, बढ़ता है,
 १०७.
 विणअ - विनय, ७८.
 विणट्ट - विनष्ट, ६३.
 विणयविचञ्जिय - विनय+विच
 जित १३८.
 विष्वास - विनाश, १३.

विणासिय - विनिश्चित, २०४.
 विणिवारिय - विनिवारित, ४३.
 विणु - विना, ६.
 वित्थर - विस्तार, ९०.
 वित्थरइ - विस्तृणोति, विस्तरता
 है, २००.
 विदिस विदिशा, ६६.
 विपडंति - वि + पतन्ति, पड़ते
 हैं, ८,
 विपलय - वि + प्रलय, १८८.
 विभोअ - विभाग, ७२,
 विमुक्क - विमुक्त, २५.
 वियाणिय - वि + ज्ञानिन्, विप-
 रीत ज्ञान वाले, १०५.
 वियाणु - विजानीहि, जानो, १९.
 वियार - विचारय, विचार कर, १५२
 वियारिय - विदारित, २२१.
 विरहिय - विरहित, १३९.
 विलमाउ - वि + लगतु, लगे,
 १०७.
 विलुलंत - विलुलत, लहलहाता
 हुआ, १७१.
 विवञ्जिय - विवर्जित, २१.
 विस - विष, २.
 विसकाणिय - विष+कणिक, २०७

- विसकंदलि - विष+कन्दली, ५०.
 विसघारिय - विष+मूर्च्छित, २१७
 (देखो घारइ).
 विसमेस - विष + मेष, १६२.
 विसय - विषय, २२०,
 विसहइ - विषहते, सहता है, १२४.
 विसहर - विषहर, सर्प, ५४.
 विसाल - विशाल, १९८.
 विसुद्ध - विशुद्ध, ९२.
 विह - विष, ९
 विहडावइ वि+घटयति, विगाढ़ता
 है. १५१.
 विहडिवि - विषट्य, विघटकर,
 १००.
 विहाण - विधान, ७०.
 विहि - विधि, २०९.
 विहिय - विहित, १५९.
 विहिविरहिय - विधि+विरहित,
 ७०.
 विहइ - विभूति, १७९.
 विहूण - विहीन, ११५.
 विसुत्तर - विशाद्+उत्तर, बीस
 ऊपर, २२२.
 वुच्चइ - उच्यते, कहा जाता है,
 १४१.
 वुहुइ - वुडति, दूषती है, १६१.
 वुत्त - उक्त, ४.
 वेदल - द्विदल, दाल, ३६.
 वेयण - वेदना, ४३.
 वेह्लि - वल्ली, वेली, ४५.
 वेसा - वेस्या, ४३.
 वेसाघर - वेस्या+गृह, ४४.
 स
 सइ - स्वयम्, १७.
 सउच्च - शौच, ७.
 सकिलेस - स + क्लेश, १६५.
 सक - शक्र, इन्द्र, १६८.
 सकइ - शक्नोति, सकता है, २०१
 सग्ग - स्वर्ग, ७३,
 सग्गागमण - स्वर्ग + आगमन,
 १६७.
 सच्चिक्खल - स+कर्दम, कीचड-
 युक्त, १४८, म चिखल
 सच्चांमर - सत् + चामर, या,
 सत्य + अमर, १७६
 सज्झाअ - स्वाध्याय, १४०.
 सण - (तत्सम), सन (hemp),
 ६७.
 सण्णास सन्यास, ७१.
 सण्णाह - सत्राह, कवच, ६०.
 सत्तक्खर - सप्राधर, २१५.

सत्तद्रूप - सप्त+अष्टम, ७४.

सत्ताम - सप्तम, १५.

सत्ति - शक्ति, ९.

सत्तु - शत्रु, १४२.

सत्थ - शास्त्र, १५९.

सत्थसथ - शास्त्र+शन, १०५.

सदप्प - सदर्प, ६५.

सद् - शब्द, १७५.

सद्धान - भद्रान, १९.

सप्प - सर्प, ६५.

समउ - समम्, साथ में, ३०.

समत्त - समाप्त, ४५.

समसरण - समवशरण, १७०.

समाइय - सामायिक, ६८.

समायरहि - समाचर, आचरण
कर, १०१.

समाहि - समाधि, १९३.

समिला - शम्भ्या,, सैला, (Yoke
pin) ३ (शम्भ्या युगकीलक.
अमर)

समीढवहु - (?) समीरय, समहारो
५८.

समीहिय - समीहित, २०१.

समुद् - समुद्र, स्व+मुद्रा, १४३.

सम्मत्त - सम्यक्त्व, १०.

सम्माइडि - सम्यग्दष्टि, ५९.

सम्मुच्छाइ - सम्मूच्छांयत, सम्मू-
छैन जीवों से युक्त होता है,
२८.

सयल - सकल, ५१.

सर - सर., सरोवर, १९१.

सरय - शरदू, १९४.

सरखर - सरोवर, १८.

सरस - (तत्सम), रसयुक्त,
१२४.

सरसइ - सरस्वती, १४३.

सरसलिल - सर.+सलिल, ६९.

सरिस - सदृश, २८.

सरिसअ - सदृश, १२०.

सरूव - स्वरूप, ९१.

सरेह - स+रेह, २१२.

सलक्खण - सलक्षण, ११७

सव्य - सर्व, २५.

ससर - स+स्वर, २१२.

ससहर - शशधर, चन्द्र, १७६.

ससि - शशिन, चन्द्र, २९.

सहइ - सहते, सहता है, १०३.

सहल - सफल, ९.

सहसणयण - सहस्रनयन, इन्द्र,
७२.

सहाअ - सहाय, १२०.
 सहु - सह, साथ, २०८.
 संकाइय - शंका + आदिक, १९.
 संखेव - संक्षेप, १.
 संघ - मुनि, आर्थिका, भ्रावक,
 भ्राविका, यह जैनियों का
 चतुर्विध संघ कहलाता है, १५८
 संग - संग, २२३.
 संघडइ - संघटयति, संगठन करता
 है, १५१.
 संजम - संयम, ७.
 संज्ञा - सन्ध्या, १२.
 संताय - संताप, १५४.
 संतोस - सन्तोष, १३७.
 संदोहय - संदोहक, २२२
 संपइ - सम्प्रति, आजकल, ७७.
 संपय - सम्पद्, ८९.
 संपुण्णहल - सम्पूर्णफल, १७८
 संषोहिय - संशोधित, १११.
 संभाविय - संभावित, १६७.
 संवरहि - संवारय, सम्हार, १२४.
 संसग्ग - संसर्ग, ५२.
 साइयजल - स्वातिजल, ९१.
 - सास्तारंड, द्रोही, ६१.

सामग्गि - सामग्री, २१.
 साय - स्वाद, ३५.
 सायर - सागर, ३.
 सावअ - भ्रावक, १०.
 सावज्ज - सावय, सदोष, २०४.
 सावयगुण - भ्रावक+गुण, २१.
 सावयधम्म - भ्रावक+धर्म, १.
 सास - शस्य, ८३.
 सासण - शासन, १७८.
 सासयपअ - शाश्वत+पद, २१०.
 सिक्खावय - शिक्षाव्रत, ११.
 (सामायिक, प्रोषधोपवास,
 भोगोपभोगपरिमाण और अ-
 तिथिसंविभाग, ये चार शिक्षा-
 व्रत हैं ।)
 सिज्झइ - सिध्यति, सधता है, २१.
 सिट्ठ - शिट, ३०.
 सिट्ठ - शिट, कहा गया, ७९.
 सिण्णि - शुकित, सीप, ९१.
 सियसंजोअ - श्री + संयोग,
 १९१.
 सिर - शिरस्, सिर, ७६.
 सिलिमुह - शिलीमुख, भ्रमर,
 १२५.
 सिवगइ - शिवगति, २२२.

सिधपट्टण - शिवपत्तन (मोक्ष),
८.

सिबिण - स्वप्न, १६०.

सिबिणयपति - स्वप्न + पंक्ति,
१६७.

सिचइ - सिञ्चति, सींचता है, ९५.

सिचंत - सिच्यमान, सींचा गया,
९८.

सिचिय - सिक्त, १८०.

सीय - सीता, स्त्री, ६३.

सील - शील, ७.

सीह - सिंह, २१५.

सुभज्जिय - सु + आर्थिका,
२०३.

सुक - शुष्क, सूखा, १८.

सुकसर - शुष्क + सरः, १३९.

सुक्ख - सुख, २०६.

सुक्खडा - सुख, १५२.

सुच्चइ - शुच्यते, शुद्ध होता है,
२६.

सुज्झइ - शुध्यते, १३१.

सुणह - श्वर, कुता, ४७, ८२.

सुणहु - शृणु, सुनो, ४२.

सुणति - शृण्वन्ति, सुनते हैं,
११८.

सुणि - शृणु, सुनो, २१.

सुत्त - सूत्र, ४२.

सुदेअ - सुदेव, १५५.

सुइ - शूद्र, ७६.

सुपत्त - सुपात, ८५.

सुपरोहण - सु + प्रवहण, नीका
८५.

सुमणस - सुमनस्, पुष्प या
शुद्धमन, १७३.

सुयण - सुजन, २.

सुयपंचमि - धृतपंचमी (उपवास)
१८५.

सुयंध - सुगंध, १५०.

सुरयण - सुरत्न, २२०

सुरराअ - सुरराज, १६४.

सुरलोअ - सुरलोक, ७२.

सुरहि - सुरभि, सुगंधित, १८४.

सुरिंद - सुरेन्द्र, १६९.

सुवण - सुमनस्, सुमन, पुष्प,
१४१.

सुवण्ण - सुवर्ण, १३६.

सुवुत्त - सु + उक्त, ७८.

सुह - सुख, ४.

सुहावण - सुखापन, सुहावना,
१७९.

सुहिय - सुखिन्, सुखी, २.
 सूणी - शुनी, कुर्ता, १४७.
 सूर - सूर्य, ३७.
 सूरण - कन्दविशेष, सूरन, ३४.
 सूरि - (तत्सम), ७.
 सूरुगामण - सूर्योत्तम, १४०
 सेहर - शेखर, २२३.
 सो - स, वह, २८.
 सोअ - शोक, १७१.
 सोइ - सोऽपि, ७
 सोक्ख - सौख्य, ७४,
 सोसइ - शोषयति, सोखता है, ६९
 सोहग्ग - सौभाग्य, १८९.
 ह
 हउं - अहम्, हं (मैं), ११८.
 हकार - आह्वान, हल्कार या हांक,
 ८८.
 हकारइ - हो, इति शब्देन आह्वयति,
 हांका लगाता है, १७५.
 हणइ - हन्ति, हनता है, ४६
 हणेइ - हन्यात्, हनेगी, ४८.
 हत्थ - हस्त, हाथ, ११७
 हत्थिय - हस्तिन्, हाथी, १२३.
 हयतम - हत + तमस्, १७२
 हरिणउल - हरिण + कुल, २१५.
 हरिय - हरित, हरा, १४.
 हरिसिय - हृष्ट, १७६.

हरेइ - हरेत्, हरेगा, ६२.
 हलुव - लघुक, १३४, १३५.
 (हेम. २, १२२.)
 हवइ - भवति, होता है, ८७.
 हवसि - भवति, होता है, १५५.
 हवंति - भवन्ति, होते हैं, १७७.
 हंसउल - हंसकुल, १३९.
 हारिअ - हारित, हराया, ८४.
 हिय - हत, १७.
 हियइंछिअ - हृदय + इच्छ, १०१.
 हियकण्णडा - हत + कर्ण, १२७.
 हियकमलिणि - हृदय + कमले,
 २१३.
 हियडा - हृदय, ५८.
 हियमधुर - हृदय + मधुर, १७८.
 हिययंचल - हृदय + अञ्चल, २०८
 हियवअ - हृदय, ५३.
 हुज्जउ - भवतु, होवे, २२४.
 हुयास - हुताश, अग्नि, ३८.
 हुयासण - हुताशन, ९८.
 हुव - भूता, हुई, १७९.
 हुवअ - भूत, हुआ, १५३.
 हुंति - भवन्ति, होते हैं, १८.
 होइ - भवति, होता है, ६.
 होउ - भवतु, होवे, २.
 होसि - भवसि, होता है, १५६.
 होहि - भव, हो, १२९.

टिप्पणी

७. बृहन्निघण्टुरत्नाकर में उत्तम सुवर्ण की परीक्षा इस प्रकार बतलाई गई है—

दाहे रक्तं सितं छेदे निकषे कुंकुमप्रभम् ।
तारं शुल्बोज्झितं क्षिग्धं कोमलं गुरु हेम सत् ॥
तच्छ्छेतं कठिनं रूक्षं विवर्णं समलं दलम् ।
दाहे छेदे सितं श्वेतं कषे त्याज्यं लघु स्फुटम् ॥

पृ. ३९३.

८. चोरहं पिडि विपडंति— हिन्दी का महावरा भी यही है— चोरो के पिंड में पड़ना या पाले पड़ना । भ. प्रति की टीका में 'पिडि' का अर्थ 'पथि' अर्थात् 'मार्ग में' किया गया है ।

९. भ्रावक अर्थात् जैन गृहस्थ के संयम की कृद्धि के अनुसार ग्यारह दर्जे हैं जिन्हे भ्रावकों की ग्यारह प्रतिमा कहते हैं । दीहा नं. १० से १७ तक इन्हीं प्रतिमाओं के लक्षण बतलाये गये हैं ।

१०. 'पंच उदुम्बर' कोष में देखिये । व्यसन सात माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

घृतं मांसं सुरा वेश्याखेटे चौर्यं पराङ्गना ।
महापापानि सप्तानि व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥

इन्के त्याग का उपदेश दीहा नं. ३८ से ५१ तक पाया जायगा ।

सम्मत्त- सम्यत्त्व- का शब्दार्थ शुद्धता या यथार्थता है। जैन धर्म में इस शब्द का प्रयोग सम्यग्दर्शन अर्थात् सत्त्वो दृष्टि के अर्थ में किया जाता है। सम्यग्दर्शन का परिभाषा यह है-

अद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।

अिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥

(रत्नकरण्डश्रावकाचार, ४)

‘ परमार्थ अर्थात् जैन सिद्धान्त के सात तत्त्वों तथा देव, शास्त्र और मुनियों में तीन मूढता और अष्ट मद से रहित, अद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन के आठ अंग हे। ’ यही लक्षण दोहा नं. १९-२० में कह गये हैं। दोहा नं. ५३ भी देखिये। सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के लिये देखिये ‘ रत्नकरण्डश्रावकाचार ’ ११-१८.

११ **पंचाणुव्वय-** पंच अणुव्रत- कोष देखिये। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतों का उपदेश दोहा नं. ५९ से ७२ तक पाया जायगा।

१२. **सामायिक-** के अनाहतादि बत्तीस दोषों के लिये देखिये ‘ मुल्लाचार ’ गाथा ६०३-६०७.

१७. ‘ कत्तरिल्लोयणिहियच्चिहुर ’ - ‘ कर्तर्या ल्वन्या वा हताः चिकुराः येन सः ’ । म. प्रति की टीका में ‘ लोयणि ’ का अनुवाद ‘ लौचनि ’ से किया गया है जिसका अर्थ या तो लौचने का शस्त्र उक्षरदि हो सकता है या हस्तलौच ।

१९. जैनियों के सात तत्त्वों के निरूपण के लिये देखिये बैरिस्टर चम्पतरायकृत ‘ Practical Path. ’

२०. सम्यत्त्व के शंकादिक आठ दोष ये हैं-शंको, कांक्षी, जगुप्पी (वृणा)

मूढदृष्टि (मिथ्यामत में भ्रमान), तथा उपगूहर्ण, स्थितिकर्ष, वात्सल्य और प्रभावर्णा का अभाव.

कुले जाति, राज्य, रूप, बल, तप, सम्पत्ति और विद्या इनके अभिमान को मद कहते हैं।

कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र की भ्रमा का नाम मूढता है। इन तीनों तथा इन तीनों के उपासकों को जो मानता है वह अनायतन कहलाता है।

२३. उपर्युक्त दोहे में कहे हुये मधु, मांस और मधु में से प्रथम दो का वर्णन न कर इस दोहे में एकदम तीसरे का प्रसंग छेड़ा गया है। इसी कमी को पूरा करने के लिये भ प्रति में दो दोहे जोड़े गये हैं (देखो परिशिष्ट) कवि ने संभवतः उन्हे यहां इसलिये छोड़ दिया है कि उनका वर्णन आगे सप्त व्यसनों में आने वाला है (देखो दोहा ४१-४३)।

२४. इस दोहे का प्रथम चरण भ. प्रति में इस प्रकार है 'अणुवय अट्टुहं मणियहं'। इसका अर्थ होता है 'आठों' अणुव्रतों के मानने से (मधु का परिहार होता है)। किन्तु यह पाठ उपयुक्त नहीं जान पड़ता क्योंकि एक तो अणुव्रत आठ नहीं है पांच है जो द्यूत, माम और मधु के त्याग सहित अणुव्रत नहीं मूल्युण कहलाते हैं। और दुसरे इस अर्थ से दूसरी पंक्ति की कुछ सार्थकता नहीं बैठती।

२५ 'सद्वहं' पाठ केवल प. प्रति में है शेष सब प्रतिषों में 'सगहं' पाठ है। भ. में भी 'सगहं' है और उसके अर्थ में कहा गया है 'सहिज-णादिकुसुमानि अपि त्यागं करोति'। यदि इसका अर्थ हम शक (साग) करें तो अच्छा होगा। तदनुसार प्रथम चरणका अनुवाद होगा 'शाक और फूलों को छोड़ देने से' इत्यादि।

२७. प्रथम पंक्ति का अर्थ भ प्रति की टीका में इस प्रकार किया गया है—
'येन (यः) अगालितजलं, दे जीव, अधं ज्ञात्वा यदि न प्रचावं निन्दां

करोति स घृती न'। किन्तु मूल के शब्दों पर से यह भाव निकालना कठिन है।

२८. कुछ पदार्थों में उनकी ध्वान्तरिक गर्मी से जो कीटाणु उत्पन्न ही जाते हैं उन्हें जैन सिद्धान्त में सम्मूर्छन जीव कहते हैं।

२९. भ. प्रति में, 'ताहं समउ जे कारणइं' के स्थान पर 'ता सम भुंजइ जो वि णरो' पाठ है, और यह दोहा नं. २९ से पहिले रखा गया है।

३०. 'तउमंडयहं' पाठ किसी भी प्रति में नहीं है, किन्तु उपयुक्त अर्थ बैठने की दृष्टि से 'भ' के स्थान पर 'म' पाठ रख दिया गया है। तो भी अर्थ बहुत संतोषजनक नहीं निकला।

भ. प्रति में 'तहं भंडयहं' पाठ है और दोहे का अर्थ इस-प्रकार किया गया है—'इच्छापि कृते तं धर्मं भांडयति लाजयति। यदि चेत् पक्कमशानादिकमपि आस्वादयति तस्य भवन्ति (भवन्ति) न दर्शनव्रतप्रतिमा' इससे मूल के शब्दार्थ समझने में मुझे कोई सहायता नहीं मिली।

श्रीयुक्त ए. एन. उपाध्ये, अर्धभागधी-प्रोफेसर, राजाराम कालेज, कोल्हापूर ने दोहे का अर्थ सूचित किया है—'किसी को उनके पके भोजन से लिप्त 'भांडों (पात्रों) में भोजन करने के लिये नहीं बैठना चाहिये। ये भाण्ड भावकों के योग्य नहीं हैं उन पात्रों में का भोजन भी (अशुद्ध है)।' इस अर्थ में 'अच्छउ' से भोजन करने बैठना, तथा 'भंड' और 'पत्त' से भांड और पात्र का अर्थ लिया गया है। मेरे ध्यान से 'तहं भंडयहं' पाठ को लेकर दोहे का निम्न अर्थ अच्छा होगा "उनके पके भोजन से लिस भांड (में भोजन बनाना) तो रहने ही दो उनके पात्रोंमें भोजन करना भी भावकों के योग्य नहीं है" इस अर्थ के लिये 'भोजणु' (एक वचन) के स्थान पर भोजण (बहुवचन) पाठ रखना आवश्यक है क्योंकि उससे सम्बद्ध

क्रियापद 'हुति' और विशेषण 'जुगाई' बहुवचन में है। अ. द. और म. प्रतियों में 'भोयणं' ही पाठ है।

३४. 'मूलउ णाली' पठना ठीक होगा। म. प्रति की टीका में इसका अर्थ 'मूल हरिद्रादि कमलनालिका' ऐसा किया गया है। इस पंक्ति का दोलतरामजीकृत क्रियाकोष की इस पंक्तिसे मिलान कीजिये—

'तजि केदार तूबड़ी सदा खाहु म नाली डिस तुम कदा'।

प प्रति में बिस को जगह डिस पाठ है। कमलनाल की शाक को कई जगह डिस या डेस अबभी कहते हैं। म. प्रति में बिस पर टिप्पण है 'कमलजड़' तथा 'त्याणयहि' की जगह 'छाणयहि' पाठ है और दूसरी पंक्ति की टीका है 'सूरण-कंद-फूल-अछाणकं पतेषां खादिते सति सम्यक्त्वं मलिनं भवेत्'। 'अत्याणय' से संभवतः अथाना (अचार Pickles) का तात्पर्य हो।

३५. म. प्रति में 'मुल्लिउ' के स्थान पर 'सुलिउ' पाठ है और उसपर टीका है 'अन्यं यत् सुलितं फूलसंयुक्तं' इत्यादि। श्लक्ति से संभवतः अंकुरित का तात्पर्य है। 'मुल्लिउ' से म्लान या मुकुलित (बौड़ी) का तात्पर्य भी कदाचित् हो सकता है।

४१. 'पुष्टिमंस' से यहाँ कवि का क्या अभिप्राय है यह स्पष्ट समझ में नहीं आता। क्या पीठ का मांस बहुत स्वादिष्ट होता है इससे मांस भोजियों को उसका छोड़ना कठिन है? पृष्ठमांस का एक अर्थ संस्कृत में पशुन्य अर्थात् जुगलखोरी भी होता है, यथा—

प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं ।
कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम् ।
छिद्रं निरूप्य सहस्रा प्रविशत्यशंकं ।
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति ॥

भ. प्रति में 'पुट्टिमंसु' के स्थानपर 'पिट्टिमंसु' पाठ है और टीकाकार ने उसका अर्थ 'धान्य की पीठी जिसमें मांस की कल्पना की गई हो' ऐसा किया है (धान्यचूर्णपीठ्यामपि मांस इति विकल्पे जाते सति सा पेठी त्यज्यते)। देवसेन कृत भावसंग्रह में कहा गया है कि गुड़ और धातकी (!, के योग से बने पित्र में मदिरा की शक्ति आजाती है। 'जह गुडधादइजोप पिठरे जाणइ मज्जिरासत्ती' (१७३)। इन तीन अर्थों में स लागू तो कोई भी किया जा सकता है पर पूर्ण संतोषप्रद मुखे उनमें से एक भी नहीं ज्ञात होता। दूसरी पंक्ति में जो कवि ने अपध्य और व्याधि की उपमा दी है उससे ज्ञात होता है कि उनकी समझ में 'पुट्टिमंस' मांसभक्षण का मूल है।

४२. इस दोहे के प्रथम चरण का अर्थ कुछ अस्पष्ट है। 'सुत्तउ' पाठ मेरा कल्पित है। पौथियों में 'मुत्तहं' या 'मुत्तउ' है। भ. प्रति का पाठ इस प्रकार है—'मज्जहु विलिप्तिहि विमुत्तई सुणहु हु मज्जहु दोसु' और इसका अर्थ यह दिया गया है—'मदिरालिप्तमुखं यस्य तस्य मुखे श्वानो (श्व) मूत्रं करोति'। यदि यह अर्थ अभीष्ट हो तो हम प्रथम चरण को इस प्रकार पढ़ सकते हैं—'मुहु विलिहिवि मुत्तइ सुणहु' (मुखं विलिह्य मूत्रयति श्वा)।

५८. इस दोहे का पाठ निश्चित करने तथा अर्थ बैठाने में बहुत कठिनाई का अनुभव हुआ है। फिर भी 'समीढवहु' पाठ सन्दिग्ध है। शब्दों के अर्थ कोष में देखिये। भ. प्रति की टीका में दोहे का अर्थ इस प्रकार किया गया है 'शुद्धदर्शनं कदा भवेत् यदा गता दूरीकृता अरयो मिथ्यात्वशत्रवः। एतादृशं सम्यक्त्वं हृदये सुनिश्चलं यस्य एतोपवासादिनां 'समाटः' प्राप्ते भवः (?) बहूनि, हे जीव, चपलानि जीवितव्यं घनानि आयुषमपि'। श्रौयुक्त ए. एन. उपाध्ये इस दोहे का अर्थ ऐसा करते हैं—'क्षुद्र या मिथ्या दक्कन, जो (अबतक) हृदयमे निश्चल था, को छोड़ो। त्रत के पाश सगालो। हे जीव, धन और आयु बंचल हैं।'।

वे ' गङ्गावर ' का ' क्षुद्र ' अर्थ मम्मटाचार्य कृत काम्यप्रकाश, १, ८३, में प्रयुक्त ' गङ्गु ' के आधार पर करते हैं। (तदेत्काव्यान्तर्गङ्गभूतासिति नास्य भेद-लक्षणम्) ।

६१. वसुराजा की कथा इस प्रकार है। वसु स्वस्तिकावती का राजा था। वह एक ब्राह्मण पुत्र नारद और गुरुपुत्र पर्वत के साथ क्षीरकदम्ब उपाध्याय के पास विद्या पढा था। गुरु की मृत्यु के पश्चात् एकवार नारद और पर्वत में ' अजैर्यष्ट्याम् ' इस श्रुति के अर्थ पर विवाद खडा होगया। पर्वत अज का अर्थ बकरा करता था और नारद कहता था कि गुरुजी ने अज का अर्थ उन्हें ' तीन वर्ष के पुराने धान जो ऊग न सकें ' यह बताया था। अन्त में उन्होंने इसके निर्णय के लिये वसु को मध्यस्थ चुना। पर्वत की माता ने वसु से अपने पुत्र के पक्ष करनेका वचन ले लिया। और तदनुसार वसु ने असत्य जानते हुए भी पर्वत के अर्थ की पुष्टि की। इस घोर असत्य के प्रभाव से वसु राजा अपने सिंहासन सहित पृथ्वी में धंस गया और फिर मर कर नरक को गया। (देखो नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष) ।

' शास्त्रारण्ड ' वैदिक काल में उसे कहते थे जो अपनी शाखा को छोड़ कर दूसरी शाखा को स्वीकार करे। ढाल का अर्थ भी शाखा है पर इस शब्द का उपयोग बृक्ष की शाखा के अर्थ में ही बहुधा देखा जाता है। संभव है ' साखंड ' या ' भाखंड ' किसी ऐसे पक्षी व कीड़े को कहते हों जिसके ढाल पर बैठने से उस ढाल को हानि पहुंचे।

६३. इंद्रिय-दृष्ट्वा, इच्छा करके; देखो दोहा २०९.

६६. भ. प्रति में ' पालिउ ' के स्थान पर ' पाडिउ ' पाठ है और उस पंक्ति की टीका इस प्रकार है- ' येन मुकुलिते सति आसा तृप्या चर्द्धते एव, तेन संयमं उत्पाटितम् । टीकाकार ' मोकलिवई ' के अर्थ को न समझने के कारण भ्रम में पड़ गये हैं ।

७७. ' भवाई ' का अर्थ ठीक समझ में नहीं आया। प. प्रति में इस शब्द पर ' छांह ' ऐसा टिप्पण है उसीके आधार पर मैंने अनुवाद किया है।

भ. प्रति में दोहो की दूसरी पंक्ति का पाठ इस प्रकार है **शिकषण्डं एरंडवणे किम अण्णाइ भवेइ** ' और इसकी टीका है ' **यथा निकर्षये सति एरंडवनानि धान्यानि न भवेत् । (भवेयुः)** ' प्रथम पंक्ति की टीका है ' **मद्यमांसमधुपरित्यागे सति संपद्यन्ते श्रावकव्रतानि** '। टीकाकार का अर्थ यह ज्ञात होता है ' मद्य, मांस और मधु के परित्याग से श्रावकव्रत होते हैं। एरंड के वत को बिना कृषि द्वारा साफ किये अन्न नहीं उत्पन्न हो सकता '।

श्रीयुक्त उपाध्ये का अनुमान है कि ' **भवार्इ** ' ' भू + आदि ' का अपभ्रंश रूप है और तदनुसार वे दोहो का अर्थ इसप्रकार बैठते हैं— ' जो मद्य, मांस और मधु का परित्याग करता है वही (शुद्ध) श्रावक होता है। एरण्डवन में से जब वृक्ष निकाल दिये जाते हैं तभी (शुद्ध) भूमि आदि रहते हैं ' इन दोनो अर्थों में ' संपद्य ' सम्पद्यते के समरूप लिया गया है और मेरे अनुवाद में ' संपद्य ' ' सम्प्रति ' के बराबर लिया गया है।

८२ इस दोहो की देवसेनकृत भावसंग्रह की निम्नलिखित गाथा से तुलना कीजिये—

केई पुण गयतुरया गेहे रायाण उण्णई पत्ता ।

दीसंति मच्चलोण कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥ ५४४ ॥

८४. ' **उप्पार्हि** ' का अर्थ अनुवाद में ' आत्मना ' हिंदी-उपतकर किया गया है। भ. प्रति की टीका में उसका अर्थ ' **उत्तिक्षप्यते** ' दिया है।

८६. ' **दोसडइ बोह्लिज्जइ** ' का अर्थ अनुवाद में ' दोषेण कप्यते ' ऐसा लिया गया है। ' बोल ' घातु अपभ्रंश में बुलाने के अर्थ में अनेक जगह आई है (देखो दोहा ८८, ११५)। किन्तु देवसेनकृत ' भावसंग्रह ' में बोल (बोल) घातु कई बार ' **बुइ** ', हिंदी-बुडना या डूबना के अर्थ में प्रयुक्त हुई है (देखो गाथा ५४७, ५४८, आदि)। तदनुसार प्रस्तुत दोहो की प्रथम पंक्ति का अर्थ यह भी हो सकता है—' **कृपाय का दान (दाता को) दोष में**

डुबाता है, इसमें भ्रान्ति नहीं। यह अर्थ अधिक अच्छा प्रतीत होता है और इससे पाषाण की नाव की उपमा बहुत उपयुक्त हो जाती है।

९९. 'घडंति' का अर्थ अनुवाद में 'घटायन्ते' अर्थात् 'घटयुक्त होते हैं,' ऐसा लिया गया है। भ. प्रति में ज. प्रति के समान 'बहंति' पाठ है, और टीका है 'यथा जलं निकालिते (जले निष्कालिते) कूपके नूतनसीरं (क्षीरं) आगच्छति'। अर्थात् 'जैसे कूप से जल निकालने पर उसमें नवीन जल आजाता है'।

१००. अविण-अविन का अर्थ मैने पालिका या पार किया है। अवि का अर्थ संस्कृत में दीवाल या पर्वत और 'अविन' का अर्थ पुरोहित (अवति रक्षति यज्ञमिति, अच् + इनच्, है) होता। इसी के अनुसार अविनि पृथ्वी का नाम है। भ. प्रति की टीका में भी यही अर्थ किया गया है—'तडागनीरबंधनपालिकया विना स्फुटति नीरं न तिष्ठति'।

१०६. योगान्द्रदेवकृत 'परमात्मप्रकाश' में एक यह दोहा है—

लाहहं किस्तिहि कारणिण जे सिवसंगु चर्यति ।
खीला लग्गिवि ते जि मुणि देउलु देउ डहंति ॥

अर्थात् कीर्तिलाभ के कारण जो शिव (मोक्ष) का संग छोड़ते हैं वे मुनि खीलों के लिये देवालय और देव को ढाते हैं। इसी के अनुसार यदि हम प्रस्तुत दोहे का यह अर्थ करें तो अच्छा होगा 'पेट के लिये जो पापमति दूसरों को दुख पहुंचाता है वह मूर्ख क्या खीलों के लिये देवालय नहीं पलोटता (तोड़ता)? इसी प्रकार के भाव के लिये देखिये दोहा २१९-२२१।

१०९-११०. इन दोहों का भावार्थ यह प्रतीत होता है। कोई अधर्मी यदि प्रश्न करे कि जिस प्रकार पोटलीमात्र विक्रीय द्रव्य से बड़ा वाणिज्य नहीं हो सकता उसी प्रकार छोटे से उपवास से कोई बड़ा धर्म नहीं हो सकता, तो इसका उत्तर यह है कि वाणिज्य का बहंपन द्रव्य के परिणाम पर नहीं किन्तु

उसके मूल्य पर निर्भर है। माणिक और मोतियों से भरी पोटली के घन का पाराश्वर नहीं और बैलभरे बैरों का कुछ भी मूल्य नहीं। इसी प्रकार उत्तम उपवासमात्र से ही बड़ा पुण्य हो सकता है। इसका उदाहरण आगे के दोहे में दिया गया है। टीकाकार का अर्थ कुछ सार्थक नहीं जंचता 'पोटं ग्रंथि स्वमस्त-कोपरि लब्धे सति मणिमुक्तानामपि, तथापि धनं किं तस्य भवेत् अपि तु न भवेत्। किमिव यथा वीरीणां भारं वहति बलीवर्दः तथापि वीरीणां मध्ये तन्नास्ति यत्खादति'।

१११. नागकुमार जैनपुराणानुसार वाइसवें कामदेव हुए हैं। पूर्वजन्म में उन्होंने श्रांपंचमी उपवास का विधि सहित पालन किया था उसी के फल स्वरूप उन्हें वह कामदेव का अनुपम सौन्दर्य और बल प्राप्त हुआ था। विशेष जानने के लिये 'णायकुमारचरित' देखिये।

११५. यदि 'बोह्लियउ' दोहा नं ८६ के नोट के अनुसार 'ब्रुडितः' का समरूप माना जाय तो अर्थ यह हो सकता है कि 'विना डुबकी लगाये क्या कोई लोक में एक छदाम भी पा सकता है'। इसका तात्पर्य समवतः उन पनडुबों से होगा जो तीर्थस्थानों पर जल में फेंके हुए सिक्कों को डुबकी लगाकर निकालते हैं। उन्हें कोई यात्री सीधा दाम नहीं देता।

१२१. अनुवाद में मण से मन और वलंत से चलत् का अभिप्राय लिया गया है किन्तु दूसरी पंक्ति का अर्थ कुछ सतोषजनक नहीं बैठता। म. प्रति की टीका में मण से मा का और वलत से उवलत् का अर्थ लिया गया है और तदनुसार दोहे का यह अर्थ होता है 'कुछ भी करके चार दान दे। अपनी शक्ति का मत छुपा। जलते हुए (घर में से) जो कुछ निकाल लेगा वही हाथ रहेगा इसमें आन्ति नहीं'। यह अर्थ अधिक अच्छा है। उव्वरइ-उद्वर्तते, रहता है या बचता है। देखो हेमचन्द्र व्याकरण ८।४।३७९-

महु कंतहो बे दोसडा होल्लि म झंखादि आलु।

देंतहो हवं पर उव्वरिअ जुज्जंतहो करवाळ ॥

१२७. अनुवाद में मणगच्छ का अर्थ मनाग् + अच्छ, कुछ अच्छे, किया गया है और इस कारण ' मत कर ' यह भाव ऊपर से मिलाना पड़ा है। किन्तु दोहा नं. १२१ के नोट के अनुसार मण का ' मा ' अर्थ लेकर प्रथम पंक्ति का यह अर्थ कर सकते हैं ' हे जीव मनोमोहनस्य गेयस्य अभिलाषं मा गच्छ ' हे जीव मनमोहक गीत की अभिलाषा में मत जा '। भ. प्रति में ' मण ' के स्थान पर ' मा ' पाठ ही है।

१३०. अनुवाद में माडिल्ल-माडि-दैन्य (Sadness, dejection) का समरूप लिया गया है। यदि हम इसे दो शब्दों में- म डिल्लउ-विभाजित कर दें तो दोहे का यह अर्थ भी किया जा सकता है ' गुरु के बचनरूपी अंकुश से खींच। ऐसा डींला मत छोड़ कि यह मनरूपी हाथी संजमरूपी हरे भरे वृक्ष को व्यर्थ ही तोड़ मोड़ डाले '। यह अर्थ अधिक अच्छा प्रतीत होता है। मुह का यहा अर्थ मुघा-व्यर्थ लिया गया है।

१३४ लोह शब्द ब्यर्थक है लोभ और लोह, (लोहा)। भावार्थ यह है कि जिस प्रकार लोहे से भरी नाव के डूबने का भय रहता है किन्तु लोहा निकाल डालने से वह सुलभता से पर लगती है उसी प्रकार लोभ का भार निकाल फेंकने से मनुष्य की ससार-यात्रा सुलभ होती है। इस दोहे की देव-सेनकृत भावसंग्रह की निम्न लिखित गाथा से तुलना कीजिये—

लोहमय कुतरंडे लग्गो पुरिसो हु तीरणीवाहे ।

बुड्ढ जह तह बुड्ढ फुपत्तसम्माणओ पुरिसो ॥ ५४९ ॥

१३५ अन्य परिवार से तात्पर्य क्रोध, मान, माया आदि दोषों से है जो मोह के क्षीण होने से आप ही क्षीण हो जाते हैं। मोह मानों द्वार की अर्गला है जो इन सब दोषों को मनरूपी गृह में रोके हुए है।

भ. प्रति में ' मोहु ण ' पाठ है और प्रथम पंक्ति की टीका है ' यत्र मोहो दुर्बलो नास्ति तत्र इतरपरिवारणि कथं क्षीणानि भवन्ति '। इसी पंक्ति का अर्थ टीकाकार नहीं लगा सके। वे लिखते हैं

‘इयोः प्रदात्रां (पद्योः) भावार्थं न ज्ञातं भतो मया न
लिखितम्’ ।

१४२. ‘चाह’ शब्द ‘त्यागेन’ के समरूप लिया गया है और ‘ण’
‘जु’ के (ण के इस अर्थ के लिये देखो कोष) । यदि उसके स्थान पर
‘चाह, पाठ लिया जावे और वह ‘कवित्तें’ के साथ जोड़ दिया जावे तो यह
अर्थ हो सकता है कि ‘चाह (चापलसी) कवित्तों द्वारा पौरुष (का वर्णन
करने) से किसी पुरुष की कीर्ति नहीं हो सकती ।’ तात्पर्य यह होगा कि
शत्रु को भी मीठे और उसकी प्रशंसा भरे वचनों से प्रसन्न करो। केवल
ब्रह्मचर्या से उसकी कुछ कीर्ति तो हुई नहीं जाती ? इसकी निम्नलिखित श्लोक
से तुलना कीजिये—

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः ।
तस्मात्तदेव दातव्यं वचने का दरिद्रता ॥

१४३. इस दोहे में ‘सरसइ’ और ‘समुद्दि’ द्वयर्थक प्रतीत होते
हैं । सरसइ-सरस्वती व सरस या स्वरस; समुद्-समुद्र व स्वमुद्रा, या
स+मुद्रा । अर्थात् मौन से भोजन करने वाले को भोजन के रसों का आनन्द
मिलता है, सरस्वती भी सिद्ध होती है, तथा लक्ष्मी भी प्राप्त होती है क्योंकि
वह समुद्र (मुद्रित मुख) में निवास करती है । संभव है कि ‘लच्छिम करहु
णिवामु’ में मकरहु णिवास [मकर (मगर) का निवास] के अर्थ का भी
समावेश हो । किन्तु दोहे की रचना में इसे यथोचित रूप से योजित करना
कठिन प्रतीत होता है । इस दोहे का संस्कृत रूपान्तर मैं इस प्रकार करता हूँ—

भोजनं मौनेन य. करोति सरस्वती [स्वरसेन वा] सिध्यति तस्य ।
अथवा वसति सपुत्रे (उदधी मुद्रासहिते मुखे वा) जीव लक्ष्मीः, कुं निवासम्
(तस्या.) । भ. प्रति की टीका में यह कुछ अर्थ नहीं बतलाया गया । टीका है
‘यः पुरुषः भोजने मौनं कुर्यात् तस्य सरसास्वाध्यायं (?)
भ्रवन्ति । अथवा ये पुरुषा स्वाध्यायेषु समुदिता भवन्ति ते लक्ष्य-
निष्ठासा (?) भवन्ति’ ।

१४६. यहाँ 'लाल' शब्द में लेष है। लाल-लाला (लार) वा पुत्र। कुस्सियारा-केशकार या रेशम का कीड़ा जो अपनी लार से रेशम बनाता है और उसी के कारण मारा जाता है। भ. प्रति की टीका का अर्थ इससे भिन्न है। दूसरी पंक्ति की टीका है-क इव। श्वेतकीटकं तस्यैव अंगजातस्यैव हृदयं खादन्ति (खादति) लेकेजुंजाला मृत्तिकायाः कीटकं प्रोच्यते'। टीकाकार के मत से मिट्टी के कीड़े, केंचुए, अपनी संतान का भक्षण करते हैं। यदि यह ठीक भी हो तो भी यह अर्थ यहाँ लागू नहीं होता।

१४८. प्रामों के कच्चे रास्तों के आरपार बरसात में लोग लकड़ी के डंडे (खोड़े) लगा देते हैं जिससे रास्ता और अधिक न विगड़ने पावे। न्याय के खोड़े लगाये बिना दरिद्री पुरुषों की दशा और विगड़ती ही है।

भ प्रति के टीकाकार ने यह अर्थ नहीं समझा। उनका अर्थ कुछ विचित्र ही है- 'कं इव, यथा काष्ठेन विना पादबंधनछिद्रकीलि-कासहितपोडे ति लोके न भवेत्। तस्य पुरुषस्य पवित्रो ऽपि मार्गाप्रकटेन दुराग्रहो भवति (?)।

१५०. चन्दन के पास सर्प रहते हैं इस डरसे यह सुगन्धी वृक्ष घर के पाम व बगीचों में नहीं लगाया जाता। यदि हो तो काट डाला जाता है।

१५५. जिस प्रकार छत्र से पानी और घाम का निवारण होता है उसी प्रकार इस लोक में तिर्यञ्चादि नीच गति और परलोक में नरक धर्म से ही रोके जा सकते हैं। ऐसा ही अर्थ लेने से दृष्टान्त की सार्थकता हो सकती है।

१५६. 'डरहि' का 'पतसि' पड़ता है, भी अर्थ हो सकता है। तदनुसार अर्थ यह होगा कि 'इसीसे बार बार मृत्यु (के मुख में) पड़ता है, चिरायु कैसे हो सकता है'। हिन्दी डरा-गिरा।

१५७. मुनि आदि धर्मवृद्ध पुरुषों की सेवाशुभूषा का नाम बैयड्य है। 'कंदि' की व्युत्पत्ति मैंने 'स्कन्दिर गतिशोषणयोः' धातु से लगाई है,

अतएव कंदि [स्फदिन्] - सूखा । अनुवाद के अर्थ के लिये ' अयाणु की जगह ' अयाण ' पाठ चाहिये । अयाणु पाठ से टीक शब्दार्थ यह होगा ' अज्ञानी और सूखा मत हो ' । भ. प्रति की टीका कुछ और ही है और उसमें कंदि का अर्थ कथं लगाया गया है- ' अमुना प्रकारेण व्याधिपीडितयुक्तानां दातव्यगुणेषु अज्ञातो कथं भवसि ' ।

१६०. भ. प्रति में तीसरे चरण का पाठ अष्ट है ' मेदनी मेहणि वंबुपवियइं ' और टीका है ' यथा वंबूलवृक्षविपने (वपने) सति आम्रफलं कथमास्वादयति ' ।

१६२. प्रथम पंक्ति की रचना कुछ क्लिष्ट है । विस से विषवाले प्राणी का जो अर्थ किया है वह पूर्ण संतोषप्रद नहीं है । भ. प्रति की टीका में उस चरण का कुछ अर्थ ही नहीं आया । टीका है ' ये प्राणिनः कूटनुलया मानोपमानं कुर्वन्ति तथा ह्रस्वदीर्घवाटकेन हीनाधिकं क्रयविक्रयं करोति स व्रती श्रावको न । तस्य धर्मः कीदृशो यथा नाट्यशालायां नृत्यकारिणी बहुवेषं धारयति तत्परेषां रञ्जनं करोत्येव ' ।

१६४. दूसरी पंक्ति का अर्थ कुछ सन्देहयुक्त है । भ. प्रति की टीका इस प्रकार है ' सम्यक्तेन सह श्रावकस्य व्रतानि भवन्ति तेन व्रतेन स्वराधिपो भवति । यदि सम्यक्तं न भवेत् तर्हि श्रावकस्यापि व्रतानि न भवेत् [भवेयुः] ' । इस अर्थ का मूल के शब्दों से कोई सम्बन्ध ही नहीं दिखाता । श्रीयुक्त उपाध्ये दोहे का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार करते हैं ' समाप्ते श्रावकव्रतानां उत्पद्यते सुरराजः । योगविनष्टः क्षिप्यते, जातः यत्र कुत्रापि किं वार्यते ' । यहाँ छंडियइ ' क्षिप्यते ' के समरूप लिया गया है और ' सो ' का कोई सम्बन्ध-वाचक सर्वनाम नहीं रक्खा गया । अनुवाद में गविणिट्टुड का गवि+निष्ठा (अलुक् समास) इन्द्रियनिष्ठा, अर्थ लिया गया है ।

१७१. यहाँ असोड [अशोक] और सोड (शोक) का यमक उत्तम है ।

१७३. यह दोहा लेशपूर्ण है। पुष्पवृष्टि के वर्णन के साथ साथ कवि ने यहा विष्णु और जिन के भक्तों में अन्तर बतलाया है।

माहउशरण-माधवशरण (वसन्तऋतु-अवलम्बी, विष्णुभक्त) .

थिप्पन्ति-पतन्ति, तृप्यन्ति (पड़ते हैं या तृप्त होते हैं) .

सुमणस-सुमनस (अच्छे पुष्प, शुद्ध मनवाले) .

अलियविवज्जिय-अलिविवर्जित (भ्रमररहित), अलीक-विवर्जित (असत्यरहित) .

१७४. रोइ-राजते, विराजता है। तुकबंदी की दृष्टि से रोइ-रोचते ही ठीक होगा।

१७५. श्रुतपंचमी का उपवास आषाढ, कार्तिक और फाल्गुण मास के शुक्लपक्ष की पंचमी को माना जाता है (देखो गायकुमारचरित ९, २०, ४.)

१७६. रोहिणी उपवास प्रत्येक मास में रोहिणी नक्षत्र के दिन माना जाता है (देखो जैनव्रतकथासंग्रह पृ. ३६) । ण-नु (देखो कौष) ।

१९३. दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप, ये चार आराधना कहलाती हैं। इस विषय का प्राकृत में अति प्राचीन ग्रंथ भगवती-आराधना है जिसका दिगम्बर समाज में बड़ा मान है। यहा उसी की टीका करने का उपदेश जान पड़ता है।

१९७. चंद्रकंति से चन्द्रकान्त मणि का तात्पर्य लिया गया है जो चंद्र की किरणों के संयोग से द्रवित होता है। यदि हम दूसरी पंक्ति को ऐसी पढ़ें ' चंद्रकंति चंद्रहं मिलिय पाणियदिष्ण ण ठाइ ' तो इसका अर्थ यों कर सकते हैं, ' जब चंद्रकान्ति चन्द्र (पूर्णिमाचन्द्र) से मिलती है तब पानी का दैन्य (दीनता) नहीं ठहर सकता ' । पूर्णिमा चन्द्र के उदय से समुद्र में ज्वारभाटा आता है यह प्रसिद्ध ही है।

२०५. प्रथम पंक्ति का भावार्थ कुछ अस्पष्ट है। म. प्रति की टीका का अर्थ ठीक नहीं जँचता ' हे जीव, यदि त्यागं कर्तुमिच्छसि तर्हि जीवपुद्गलयोः येन सुखं प्राप्यते तत्यागं श्रेष्ठं कथितं । तस्य इदमेव सम्यक् कथं न जातम् ' ।

२१२. इस दोहे में कमलाकार सिद्धचक्र बनाकर उसकी पूजा करने का उपदेश है। सिद्धचक्र को बनाने का पूर्ण विवरण देवसेनकृत भावसंग्रह की ४४३ से ४६८ गाथाओं में है। इनमें की दो गाथायें ये हैं—

सोलदलकमलमज्जे अरिहं विलिहेह बिंदुकलसहियं ।

वंभेण वेढइत्ता उव्वरिं पुणु मायवीणण ॥ ४४४ ॥

सोलससरेहि वेढहु देहवियप्पेण अट्टवग्गा वि ॥

अट्टहिं दलेहिं सुपयं अरिहंताणं णमो सहियं ॥ ४४५ ॥

(वसुनन्दी ध्रावकाचार की ४७० आदि गाथायें भी देखिये) ।

२१४. ये पांच वर्ण क्रम से अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के द्योतक हैं। यह जपमंत्र है।

२१५. यह सप्ताक्षर (यथार्थत सप्तमात्रिक) मंत्र कहलाता है। उसमें दो वर्ण दीर्घ होने से कुल सात मात्रायें हैं।

२२० ' पट्टोलयतग्गंथियहं ' का ठीक अर्थ समझ में नहीं आया। अधिक अच्छे अर्थ के अभाव में अनुवाद में वह अर्थ दे दिया है।

पट्टोलय-पट्ट+उल्लोच (वितान)। जिसे हिन्दी में कपड़े का छत कहते हैं। कमरे में इस छत को तानने के लिये जगह जगह उसके किनारों पर एक पत्थर का टुकड़ा देकर गांठ दे देते हैं। इस तुच्छ कार्य के लिये जो एक बड़े बहुमूल्य रत्न के टुकड़े करें उससे बड़ा मूर्ख और कौन होगा ? आपटे के संस्कृत अंग्रेजी कोष में पटोल का अर्थ भी एक प्रकारका वस्त्र (a kind of cloth) दिया है। शक्ति अर्थात् सीप जिसमें से मोती निकलता है, को भी संस्कृत में पटोलक कहते हैं। भ प्रति में अन्त के सात दोहों की टीका नहीं है।

२२२ द्वितीय पंक्ति में श्लेष है। जैसे दोहनेवालों को धेनु उत्तम दूध देती है उसी प्रकार यह उत्तम दोहों की धर्मधेनु (पढ़ने वालों को) उत्तम पद देगी। धर्मधेनुः संदोहकेभ्यः संदोहकानाम् वा, वरपयः वर-पदं वा वदाति न भ्रान्तिः ।

दोहों की वर्णानुक्रमणिका

अच्छउ भोयणु ताहं घरि ३०.
 अट्टुई पालइ मूलगुण २६.
 अणुमइ देइ ण पुच्छियउ १६.
 अणुवयगुणसिक्खावयइं ५९.
 अण्णाएं आवति जिय १४५.
 अण्णाएं दालिहियहं ओहट्टइ १४९.
 अण्णाएं दालिहियहं रे जिय १४८.
 अण्णाएं बलियहं वि खउ १४७.
 अण्णु जि मुललिउ फुल्लियउ ३५.
 अण्णुवट्टुइं माणियइ २४.
 अत्तागमतत्ताइयहं १९.
 अमयदाणु भयभीरुयहं १५६.
 अरहंतु वि दोसहिं रहिउ ५.
 अलिय कसायहि मा चवदि ६१
 अवरु वि जं जहिं उवयरइ ११९
 आउसंति सग्गहु चइवि ७३.
 आभिससरिसउ मासियउ २८
 आरात्तिउ दिण्णउ जिणहं १९६
 अककु वि तारठ भवजलहे ८५
 अक्किट्टुइं विहिं तिहि भवाहि ७४
 उत्तमपत्तु मुणिदु जगि ७९.
 उववासहु इक्कहु फलइं १११.
 उइयचउइसिअट्टुमिहिं १३.

एकहिं हंदियमोक्कलउ १२८.
 ए ठाणइं एयारसइं १८.
 ए बारह वय जा करइ ७२.
 एयवत्थु पहिलउ विदिउ १७.
 एयारहविहु तं कहिउ ९.
 एवविहु जा जिणु महइ १८०.
 एह विहइ जिणिसरह १७९.
 एहु घम्मु जो आचरइ ७६.
 कम्मु ण खेतिय सेव जहिं ९७.
 कहिं भोयण सहं भिट्ठी ९४
 काइ बहुत्तइ जंपियइं १०४.
 काइं बहुत्तइ सपयइ ८९.
 कामकहइ परिचत्तियइ ४५.
 किं किं देइ ण घम्मत्तर ९८.
 कूडतुलामाणाइयहं १६२.
 खचहि गुरुवयणंकुसाहिं १३०.
 खुइं भोउ ण तसु महइ १८६.
 गरुडहं भावइं परिणवइ २१७.
 गंधोएण जि जिणवरहं १८२.
 गुणवंतहं सह संगु करि १४१.
 गुरुआरंभइं णरयगइ १६१.
 वरु पुरु परियणु घणियघणु १२०.
 घाणिदिय वड वसि करहि १२५.
 चउरट्टुइ दोसहं रहिउ १२.

चम्मच्छहं पीयइं जलइं ३२.
 चंदौवइं दिण्णइं जिणहं १९८.
 चामर ससिहरकरधवल १७६
 चिरकियकम्महं खउ करइ ६९
 चिंधचमरछत्तइं जिणहं २००.
 चोरी चोर हणेइ पर ४८.
 छत्तइं छणससिपडुरइं १७७.
 छुड्ड दंसणु गङ्गायरउ ५८.
 छुड्ड सुविसुद्धिय होइ जिय १०७
 जइ अहिलासु णिवारियउ ५१
 जइ इच्छहि संतोसु करि १३७.
 जइ गिहत्थु दाणेण विणु ८७.
 जइ जिय सुक्खहं अहिलसहि १२२.
 जइ देखेवउ छट्ठियउ ३९
 जलधारा जिणपयगयउ १८३
 जसु दंसणु तसु माणुसह ५४.
 जसु पत्तुत्तमराइयउ १७१.
 जं जिय दिज्जइ इत्थु भवि ९४
 जं दिज्जइ तं पावियइ ९२.
 जंबूदीउ समोत्तरणु २०२.
 जासु जणणि सग्गागमणि १६७
 जासु हियइ अ सि आ उ सा २१४
 जिणपडिमइं कारावियइं १९२.
 जिणपयगयकुसुमंजलिहि १९१.
 जिणभवणइ कारावियइं १९३.
 जिणहरि लिहियइं मडियइ २०१
 जिणु अच्चइ जो अक्खयहिं १८५.

जिणु गुणु देइ अचेयणु वि २१८.
 जिग्भिदित्ठि जिय संवरहि १२४.
 जिय मंतइं सत्तक्खरइं २१५
 जिह समिलहिं सायर गयहिं ३.
 जूएं धणहु ण हाणि पर ३८
 जेण अगालिउ जलु पियउ २७.
 जेण सुदेउ सुणरु हवासि १५५.
 जे सुणंति धम्मक्खरइं ११८.
 जो धरि हुंतइं धणकणइं ९३.
 जो चच्चइ जिणु चंदणइं १८४,
 जो जम्मुच्छवि प्हावियउ १६८,
 जो जिणु प्हावइ घयपयहिं १८१.
 जो धवलावइ जिणभवणु १९४.
 जो पड्यावइ जिणयरहं १९५
 जो वयभायणु सो जि तणु ११६.
 झुणिअक्खियसंपुण्णहल १७८
 डिळ्ळउ होहि म उदियह १२९.
 णमकारेपिणु पंचगुरु १.
 णयसुरसेहरमणिकिरण २२३.
 ण हु विग्गासिय दलकमलु २१२.
 णाणुग्गमि जसु समसरणे १७०.
 णासउ धणु तसु धरतणउ ६२.
 णिद्धणमणुयइं कट्टुडा ११४.
 णियमविहणइं णिट्टुटी ११५
 णेवज्जइं दिण्णइं जिणहु १८७.
 तं अपत्तु आगमि भणिउ ८३.
 तं पायडु जिणवरवयणु ६.
 तंबोलोसहु जलु मुइवि ३७.

ता अच्छउ जिय पिसुणमइ १५०
 तामच्छउ तउमंछयहं ३१.
 तिलयइ दिण्णइं जिणवरहं १९७.
 तें कज्जे जिय पइं भणित ११२.
 ते कम्मवस्खउ मग्गि जिय २१०.
 ते सम्मत्तु महारयणु २०८.
 दय जि मूलु घम्मंधिवहु ४०.
 दसणभूमिहिं बाहिरउ ५७.
 दंसणरहियकुपति जइ ८१.
 दसणरहिय जि तउ करहिं ५५.
 दंसणसुद्धिए सुद्धयहं ५६.
 दंसणु णाणु नरितु तउ २२४
 दाणच्चणविहि जे करहिं ११७.
 दाणच्चणविहि जो करइ २०९.
 दाणु कुपत्तह दोसडउ ८६.
 दिण्णइं वत्थ सुआज्जियहं २०३.
 दिंसि विदिसहिं परिमाणु करि ६६.
 दीवडं दिण्णइं जिणवरहं १८८.
 दुज्जणु सुहियउ होउ जगि २
 दुण्णि सयइं विसुत्तरइं २२२.
 दुल्लहु लहि मणुयत्तणउ २२१.
 दुल्लहु लहिवि णरत्तयणु २२०.
 देइ जिण्णिदहं जो फलइ १९०
 देहिं दाण चउ किं पि करि १२०.
 धम्मसरूवें परिणवइ ९१.
 धम्महु धणु परिहोइ थिर १००.
 धम्मु करउं जइ होइ धणु ८८.

धम्मु करंतहं होइ धणु ९९.
 धम्मु विसुद्धउ तं जि पर ११३.
 धम्मं इक्कु वि बहु भरइ १०३.
 धम्मं जं जं अहिलसइ १६५.
 धम्मं जाणहिं जंति णर १०२.
 धम्मं विणु जे सुक्खडा १५२.
 धम्मं सुहु पावेण दुहु १०१.
 धम्मं हरिहलचक्रवइ १६६.
 धवलु वि सुरमउडंकिवउ १७४
 धूवउ खेवइ जिणवरहं १८९.
 पतइं दाणइं दिण्णइण ९६.
 पतइं दिज्जइ दाणु जिय ७०
 पत्तहं जिणउवएसिबहं ८०.
 पत्तहं दिण्णउ थोवडउ ९०.
 परतिय बहुबंधण ण पर ५०.
 परिहरि कोहु खमाइ करि १३१.
 परिहरि पुत्तु वि अप्पणउ १४६.
 पसुधणधण्णइं खेतियइं ६४.
 पंचमु जसु कन्नासणहं १४.
 पंचाणुव्वय जो घरइ ११.
 पंचुंवरहं णिवोत्ति जसु १०.
 पाउ करहि सुहु अहिलसहि १६०.
 पारद्विउ परणिविण्णउ ४६.
 पुग्गलु जीवइं सहु गग्गि २०५.
 पुट्टिमंसु जइ छड्डियउ ४१.
 पुण्णरासिण्हवणाइयइं २०७.
 पुण्णु पाउ जसु मग्गि ण ससु २११.

पोह्लियइं मणिमोत्तियइं ११०.
 पोह्लइं लभिग वि पावमइ १०६.
 पोत्थय दिण्ण ण मुणिवरहं १५९.
 फरसिंदित मा लालि जिय १२३
 बंभयारि सत्तमु भाणित १५.
 बिणिण सयइं अ सि आ उ सा २१६.
 भव्वुच्छाहाणि पावहरि १९९.
 भोगहं करहि पमाणु जिय ६५.
 भोयणु मउणें जो करइ १४३.
 मउयत्तणु जिय मणि धरहि १३२.
 मग्गइं गुरुटवएसियइं ८.
 मज्जु मंसु महु परिहरइ ७७.
 मज्जु मंसु महु परिहरहि २२.
 मज्जु मुक्कु मुक्कइं मयहं ४३.
 मण गच्छइं मणमोहणहं १२७.
 मणवयकायहिं दय करहि ६०.
 मणुयत्तणु दुल्लहु लहिंवि २१९.
 मणुयहं विणयविवज्जियहं १३८.
 महु आसायउ थोडउ वि २३.
 माणइं इच्छिय परमहिल ६३.
 माया मिल्लिहि थोडिय वि १३३
 माहउसरणु सिलीमुहउ १७३,
 मिच्छतें णरु भोहियउ १३६.
 मुक्क सुणहमंजरपमुह ४७
 मुक्कइं कूडतुल्लइयहं ४९
 मुणि वयणइं झायहि मणइं १०८
 मुहु विक्किहिवि मुत्तइ सुणहु ४२.

मूलउ णाली भिसत्तहसुण ३४.
 मूलगुणा इय एत्तइइं ५३.
 मोहु णु छिञ्जउ दुच्चलउ १३५.
 राहरामिसचम्मट्टिसुर ३३
 ह्वहु उप्परि रट म करि १२६
 रे जिय पुव्व ण धम्मु किउ १५४.
 लोहु मिद्धि चउगइसल्लि १३४.
 लोहु लक्ख विसु सणु मयणु ६७.
 वसणइं तावइं छंढि जिय ५२
 वारिउ तिमिह जिणेसरह १७२.
 विज्जावच्चु ण पइं कियउ १५७.
 विज्जावच्चें विरहियउ १३९.
 विसयकसाय वसणाणिवहु १४४
 विहडावइ ण हु संघडइ १५१
 वेदलमीसिउ दहिमहिउ ३६.
 वेसहिं लगइ धणियधणु ४४.
 सज्जाए णाणह पसरु १४०
 सण्णासेण मरंतयहं ७१
 सत्तु वि महुरइ उवसमइ १४२.
 सत्थसएण वियाणियहं १०५
 सद्दामिसिण दुंदुहि रडइ १७५
 सम्मतें विणु वय वि गय २०६.
 सम्मतें सावयवयहं १६४.
 सव्वइं कुसुमइं छंडियइं २५
 संकाइय अट्टु मय २०
 संगचाउ जे करहि जिय ७५.
 संगें मज्जाभिसरमइं २९.

संघहं दिण्णु ण चउबिहहं १५८.

संजमु सीलु सउच्चु तउ ७.

संज्ञातिहिं मि समाइयइं ६८.

सारंभइं णवणाइयहं २०४

सावयधम्महं सयलहं मि ७८

सुगि दंसणु जिय जेण विणु २१

सुरसायरि जसु णिकमणि १६९.

सुहियउ हुबउ ण को वि इह १५३.

सुहु सारउ मणुयत्तणहं ४.

हयगयसुणहहं दारियह ८२.

हलुवारंभइं मणुयगइ १६३.

हारिउ तें धणु अप्पणउ ८४.

हियकमलिणि ससहरधवल २१३.

होइ बणिज्जु ण पोट्टलिहिं १०९.



शुद्धिपत्र.

अर्थ की दृष्टि से दोहों के पाठ व अनुवाद में जो सुधार किये जा सकते हैं वे टिप्पणी में बतलाये गये हैं। यहाँ केवल प्रेस की अशुद्धियों का शोधन किया जाता है।

दोहा नं.	अशुद्ध.	शुद्ध.
९	मणुसजम्मु	माणुसजम्मु
६६	पलिउ	पालिउ
६७	पिडिउ	पडिउ
६८	उष्पज्जइ	उप्पज्जइ
१०७	घम्मु	धम्मु
११५	णिट्ठणी	णिट्ठडी
१३३	मिल्ली	मिल्लीहि

कारंजा से दो ग्रन्थमालाएं प्रकाशित हो रही हैं

जिनमें निम्न लिखित अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ
प्रकाशित हो चुके हैं-

जसहरचरिउ पुष्पदन्त कृत	६)
सावयधम्मदोहा	२॥)
णायकुमारचरिउ पुष्पदन्त कृत	६)

निम्न लिखित अपभ्रंश ग्रन्थ शीघ्र ही क्रमशः प्रकाशित होने वाले हैं-

करकंडचरिउ - कनकामरमुनि कृत.

पाहुड दोहा

सुदंसणचरिउ - नयनन्दि कृत

अपभ्रंशकथासंग्रह

पासचरिउ - पद्मनन्दि कृत

जम्बूसामि चरिउ - वीर कृत

महापुराण - पुष्पदन्त कृत

कथाकोष - श्रीचन्द्र कृत

पउमचरिउ - स्वयंभू कृत

हरिवंशपुराण - ,,

मिलनेका पता-मोतीलाल बनारसीदास,

पंजाब संस्कृत बुकडिपो, लाहौर.

Printed from type by T. M. Patil at the 'Saraswati
Power Press,' Amraoti

AND

Published by Seth Gopal Ambadas Chawara,
Karanja Berar (India).
